॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१५६

महाकविभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम्

समालोचनात्मक भूमिका, संस्कृत-हिन्दीव्याख्या
भावार्थ, हिन्दी अनुवाद सहित

(प्रथम सर्ग)

व्याख्याकार—

समीर शर्मा

भूमिका लेखक

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

८

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१४६

महाकविभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम्

(समालोचनात्मक भूमिका, संस्कृत-हिन्दीव्याख्या, भावार्थ, हिन्दी अनुवाद सहित)

(प्रथम सर्ग)

व्याख्याकार
श्री समीर शर्मा

भूमिका लेखक
डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ४२०४०४

पुनर्मुद्रित संस्करण २००३
मूल्य ३५-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ३३३४३१
*
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक
फूल प्रिन्टर्स
वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
146
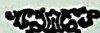
KIRĀTĀRJUNĪYA

OF

BHĀRAVI

(FIRST CANTO)

Edited with Hindi Translation, explanatory Sanskrit and Hindi Commentaries

By
Shri Sameer Sharma
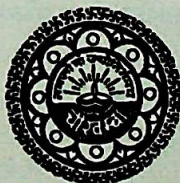
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

प्रस्तुत संस्करण की विशेषता

- ☐ भूमिका में भारवि तथा 'किरातार्जुनीयम्' पर परीक्षाओं में अब तक पूछे गये सभी प्रश्नों के आदर्श उत्तर समाविष्ट हैं।
- ☐ श्लोकों का अत्यन्त शुद्ध पाठ दिया गया है।
- ☐ श्लोकों की व्याख्या के पहले ही भावार्थ बता दिया गया है, जिससे उनके अर्थ को समझने में सरलता होगी। इस भावार्थ का उपयोग विद्यार्थी परीक्षा में व्याख्या लिखते समय प्रसंग निर्देश के अन्तर्गत कर सकते हैं।
- ☐ शब्द व्याख्या में शब्दों का अर्थ, उनकी व्युत्पत्ति, व्याकरण एक साथ ही स्पष्ट कर दिया गया है। समास आदि अलग-अलग देने पर अर्थ शीघ्र स्पष्ट नहीं होता, अतः शब्दार्थ के साथ ही शब्द की रचना भी स्पष्ट की गयी है।
- ☐ अन्वय ऐसे स्थान पर रखा गया है कि शब्द-व्याख्या के बाद विद्यार्थी स्वयं भी अन्वय कर सकता है और तब अन्वय पढ़ने पर श्लोक के अर्थ के विषय में रही सही कठिनाई भी दूर हो जायेगी। अन्वय में मुख्य उपवाक्य को मोटे अक्षरों में स्पष्ट कर दिया गया है।
- ☐ संस्कृत-व्याख्या अत्यन्त सरल तथा बोधगम्य है। इसे पढ़कर परीक्षा में संस्कृत-व्याख्या आसानी से लिखी जा सकती है।
- ☐ हिन्दी अनुवाद की भाषा अत्यन्त सरल तथा छोटे वाक्यों वाली है।
- ☐ अलंकार एवं काव्यगत विशेषताओं का यथास्थान टिप्पणी में निर्देश किया गया है।
- ☐ अन्त में परीक्षा के प्रश्नों का निर्देश करके परीक्षार्थियों के लिए उपयोगी परामर्श दिये गये हैं।

—: ० :—

भूमिका

संस्कृत काव्य

संस्कृत में सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं को दो भागों में बाँटा गया है—१. दृश्य काव्य (जिसे देखा जा सके) और २. श्रव्य (जो सुना या पढ़ा जा सके)। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत सभी प्रकार के रूपक अर्थात् नाटक इत्यादि आते हैं। रूपक से भिन्न साहित्यिक कृतियाँ श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। शैली की दृष्टि से श्रव्य-काव्य के मुख्य दो भेद हैं गद्य और पद्य। प्राचीन आलङ्कारिकों ने गद्य और पद्य की मिश्रित रचना को मिलाकर श्रव्य काव्य के तीन भेद किये हैं–१. गद्य. २. पद्य ३. चम्पू ('पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्'–दण्डी)। वर्ण्यविषय की दृष्टि से गद्यरचनाओं के दो वर्ग किये गये हैं–कथा और आख्यायिका। कथा में विषयवस्तु कल्पनाप्रधान होती है, जैसे बाण की कादम्बरी; और आख्यायिका में ऐतिहासिक कथावस्तु होती है, जैसे बाण का ही हर्षचरित। मुख्यतः आकार की दृष्टि से पद्यकाव्य की रचनाओं के दो वर्ग किये जाते हैं–महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य कई सर्गों में रचित लम्बी रचनाएँ होती हैं, जैसे कालिदास के 'रघुवंशम्' तथा 'कुमारसम्भवम्', भारवि का 'किरातार्जुनीयम्', माघ कवि का 'शिशुपालवधम्', श्रीहर्ष कवि का 'नैषधीयचरितम्' आदि। खण्डकाव्य छोटी पद्यात्मक रचनाओं को कहा गया है, जिन्हें दूसरे शब्दों में गीति-काव्य भी कह सकते हैं। इस प्रकार की छोटी रचनाएँ आती हैं, जैसे कालिदास का 'मेघदूतम्', पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनीविलास', जयदेव का गीतगोविन्द', अमरुक कवि का 'अमरुशतकम्' आदि ('खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च'—खण्डकाव्य महाकाव्य की विषयवस्तु के एक खण्ड को उपादान बनाता है—आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण)।

उल्लेखनीय है कि संस्कृत में काव्य सभी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं को कहते हैं। सङ्कुचित अर्थ में काव्य का प्रयोग पद्य के लिये ही होता है।

चम्पू नाम की रचनाओं में गद्य और पद्य दोनों ही शैलियों का प्रयोग होता है ('गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते')। इस प्रकार की रचनाएँ हैं—भारतचम्पू, विश्वगुणादर्शचम्पू इत्यादि।

महाकाव्य के लक्षण और किरातार्जुनीयम्

'किरातार्जुनीयम्' एक महाकाव्य है। संस्कृत के आलंकारिकों ने महाकाव्य के लक्षणों की विस्तृत विवेचना की है। अग्निपुराण, काव्यादर्श, काव्यालंकार एवं सरस्वतीकण्ठाभरण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में महाकाव्य के लक्षण दिये गये हैं। यहाँ हम आचार्य विश्वनाथ रचित 'साहित्यदर्पण' से महाकाव्य की विस्तृत परिभाषा उद्धृत करते हैं—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥

सर्वप्रथम महाकाव्य सर्गों में विभक्त होता है। नायक कोई देवता होता है

या उच्चवंशोत्पन्न क्षत्रिय होता है, वह धीरोदात्त[1] प्रकृति का नायक होता है। एक वंश के कई राजा भी किसी एक महाकाव्य के नायक हो सकते हैं, जैसे कालिदास रचित 'रघुवंश' में। प्रधान रस शृंगार, वीर या शान्त होता है और अन्य रस उसके सहायक होते हैं। कथावस्तु नाटक के समान ही होती है, वह ऐतिहासिक हो सकती है या किसी सज्जन के सत्कर्म से सम्बन्धित। नाटक के सम्बन्ध में वर्णित सभी सन्धियाँ भी महाकाव्य में होती हैं। पुरुषार्थचतुष्टय का वर्णन महाकाव्य में किया जाता है और उन चारों पुरुषार्थों में किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य का लक्ष्य होता है, उसकी प्राप्ति के साधनों का वर्णन प्रधान होता है। महाकाव्य के प्रारम्भ में इष्ट देवता की स्तुति, मंगलकामना अथवा कथावस्तु का निर्देश होता है। वर्ण्यविषय में कहीं दुर्जनों की निन्दा होती है, तो कहीं सज्जनों के गुणों की प्रशंसा। सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, गोधूलि, दिन, अन्धकार, प्रेमियों का मिलन और वियोग, आखेट, ऋषि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, आक्रमण, विवाह, उपदेश, पुत्रजन्म आदि सभी प्रकार के वर्णन महाकाव्य में होते हैं। छन्द एक सर्ग में एक ही होता है, सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया जाता है। कभी-कभी एक ही सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी देखा जाता है। महाकाव्य में सर्गों[2] की संख्या आठ से अधिक होती है, कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। ये सर्ग न तो बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े। सर्ग के अन्त में आगे आनेवाली कथा की सूचना होती है। महाकाव्य

---

१. धीरोदात्त नायक—मनस्वी, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील तथा अहंकार-रहित होता है। स्थिर, अपने व्रत का पालन करनेवाला, अपने अहंकार को छिपानेवाला होता है—'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।' दशरूपक २।

२. सर्गों की संख्या के विषय में ईशानसंहिता नामक ग्रन्थ में लिखा गया है कि यह संख्या आठ से कम न हो और तीस से अधिक भी न हो—'अष्टसर्गान्न तु न्यूनं त्रिंशत्सर्गाच्च नाधिकम्'। 'हरविजय' नाम के महाकाव्य में ५० सर्ग हैं। रघुवंश में १९ सर्ग हैं। कुमारसम्भव में १७ हैं, कुछ लोग ८ ही मानते हैं। शिशुपालवध में २० सर्ग और नैषधीयचरित में २२ सर्ग हैं। एक सर्ग के श्लोकों की संख्या के विषय में भी ईशानसंहिता में कहा गया है कि एक सर्ग में कम से कम ३० पद्य हों, किन्तु २०० से अधिक न हों।

का नामकरण कवि, वर्ण्यविषय नायक या किसी अन्य व्यक्ति के नाम पर होता है। प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसके अन्तर्गत वर्णित विषय के आधार पर होता है।

महाकाव्य के उपर्युक्त सभी लक्षण भारवि की रचना 'किरातार्जुनीयम्' में मिलते हैं। नायक उच्च क्षत्रिय कुल में उत्पन्न अर्जुन है। अर्जुन धीरोदात्त नायक की कोटि में आते हैं। वे शोक-क्रोध के आवेश में नहीं आते, अत्यन्त गम्भीर हैं, अपनी श्लाघा नहीं करते, आत्माभिमान को गुप्त रखते हैं तथा अपने व्रत और वचन पर दृढ़ रहते हैं। इस महाकाव्य में प्रमुख रस वीर रस है तथा शृङ्गारादि रस उसके सहायक हैं। कथानक इतिहास अर्थात् महाभारत से लिया गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी पुरुषार्थों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है, किन्तु उनमें एक पुरुषार्थ अर्थ, अर्जुन द्वारा शस्त्र-प्राप्ति प्रमुख है। महाकाव्य के आरम्भ में 'श्री'-शब्द का प्रयोग करके मंगल भी किया गया है और कथावस्तु का निर्देश भी किया है—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥

वनेचर के उल्लेख से आगे किरात रूप में उपस्थित होनेवाले शिव का भी संकेत कर दिया गया है। स्थान-स्थान पर दुष्टों की निन्दा तथा सज्जनों की प्रशंसा की गयी है, जैसे प्रथम सर्ग में ही दुर्योधन की उत्तम नीति का वर्णन करने के बावजूद खल के रूप में उसकी निन्दा की गई है। 'विशङ्कमानो' 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' 'तथापि जिह्मः' 'कथाप्रसंगेन' 'तदाशु कर्तुम्' 'भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः' आदि में उसकी कुटिलता का वर्णन भी किया गया है। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग है, जैसे प्रथम सर्ग में वंशस्थ छन्द ही है, किन्तु महाकाव्य के लक्षण का पालन करते हुए सर्ग के अन्त में छन्द बदल गए हैं। प्रथम सर्ग के अन्तिम दो पद्य वंशस्थ न होकर पुष्पिताग्रा और मालिनी छन्द हैं। सर्गों की लम्बाई न तो छोटी है और न बहुत लम्बी है। इस महाकाव्य में सबसे छोटा सर्ग चतुर्थ ३८ पद्यों का और सबसे लम्बा सर्ग एकादश ८१ पद्यों का है। यह भी महाकाव्य के लक्षण के अनुरूप ही है। सर्गों की संख्या १८ है, जबकि महाकाव्य में ८ से कम सर्ग नहीं होने चाहिए। सर्गों के अन्त में आगे में आनेवाले सर्ग की कथावस्तु का भी संकेत किया गया है। 'लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः' से आगे की घटना का संकेत है।

जहाँ तक वर्ण्यविषय का प्रश्न है, सभी प्रकार के वर्णन जो महाकाव्य में होने चाहिए 'किरातार्जुनीयम्' में पूरी तरह से और विस्तार से वर्णित हैं।

चौथे सर्ग में हिमालय का और ऋतुओं का पूरी तरह से वर्णन मिलता है। यह वर्णन पांचवें और छठे सर्गों में भी चलता रहता है। छठे सर्ग में इन्द्र और स्वर्ग का भी वर्णन है। नवें सर्ग में सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय और प्रभात का भी मनोहारी तथा विस्तृत वर्णन है। सातवें से लेकर दसवें सर्ग तक अप्सराओं का उनकी कामचेष्टाओं का और सम्भोग-शृङ्गार का वर्णन है। अर्जुन और किरातवेशधारी शिव के युद्ध का वर्णन पन्द्रहवें सर्ग से लेकर अन्तिम सर्ग तक किया गया है और तेरहवें सर्ग में सूकर के वध का वर्णन मृगया के रूप में किया गया है। मुनियों का भी वर्णन है तथा युद्ध के लिए शिव के सेनासहित रणप्रयाण का वर्णन विस्तार से किया गया है। इस प्रकार वर्ण्यविषय की दृष्टि से भी 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के सभी लक्षणों को पूरी तरह चरितार्थ करता है।

काव्य का नामकरण इसके नायक अर्जुन तथा किरातवेशधारी शिव के युद्ध की घटना के आधार पर किया गया है। प्रथम पद्य में ही किरात का उल्लेख है और अन्तिम सर्ग में भी शिव किरात के रूप में दिखलाई देते हैं। इस प्रकार नामकरण भी महाकाव्य के लक्षण के अनुसार है।

इन सभी दृष्टियों से 'किरातार्जुनीयम्' एक महाकाव्य है। सच तो यह है कि इस महाकाव्य को आदर्श मानकर ही बाद के कवियों ने अपने महाकाव्यों की रचना की है, यथा माघ ने 'शिशुपालवध' की और श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' की।

इस संबंध में मल्लिनाथ ने प्रथम सर्ग की टीका के अन्त में दो श्लोक दिये हैं—

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज-
स्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः।
शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

किरातार्जुनीयम् की कथा

महाकवि भारवि का एकमात्र ग्रन्थ है महाकाव्य किरातार्जुनीयम्। महाकाव्य का नामकरण किरातवेशधारी शंकर तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन के युद्ध की कथा को लेकर किया गया है, जो इस काव्य की प्रमुख घटना है।[1] सम्पूर्ण महाकाव्य

---

१. 'किरातश्च अर्जुनश्च किरार्जुनौ। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतं काव्यं किरातार्जुनीयम्।' 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छ' सूत्र से छ प्रत्यय। 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' सूत्रसे 'छ'के स्थानपर 'इय्'होता है।

१८ सर्गों में निबद्ध है। महाकाव्य के नायक हैं वीर अर्जुन, जो पाशुपतादि दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए इन्द्रकील नामक पर्वत पर तपस्या करते हैं। नायक के चारित्रिक महत्त्व को बढ़ाने के लिए कवि ने शंकर भगवान् को किरात के रूप में उपस्थित किया है।[1] काव्य का मुख्य रस है वीर रस, एवं शृङ्गार आदि रस इसके सहकारी हैं। महाकाव्य 'श्री' शब्द से प्रारम्भ होता है और प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

कथा की पृष्ठभूमि

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की कथा महाभारत पर आधारित है। महाभारत को कई नाटकों और महाकाव्यों का उपजीव्य होने का गौरव प्राप्त है। यह काव्य महाभारत की मुख्य कथा से ही संबद्ध है। पाण्डु की मृत्यु के बाद पाण्डव धृतराष्ट्र के संरक्षण में रहने लगे। ज्येष्ठ पाण्डव जब युवक हुए, तब धृतराष्ट्र ने उन्हे हस्तिनापुर का युवराज बनाया। धृतराष्ट्र का ज्येष्ठपुत्र दुर्योधन युधिष्ठिर के युवराज बन जाने से ईर्ष्या से जल रहा था और उनसे अत्यन्त द्वेष करने लगा था। दुर्योधन ने पाण्डवों को हर प्रकार कष्ट देने और उन्हें नष्ट करने का जाल रचा, किन्तु पाण्डव बचते गये। उन्हें लाक्षागृह में भी जला डालने का षड्यन्त्र दुर्योधन ने रचा था, किन्तु इस बार भी पाण्डव बच निकले। वे ब्राह्मणों का वेश धारण कर गुप्तरूप में रहने लगे। इसी अवधि में अर्जुन ने द्रुपद राजा के दरबार में द्रौपदी के स्वयंवर में अपने धनुष चलाने के कौशल का प्रदर्शन किया।

राजकुमारी द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनी। जब धृतराष्ट्र को पाण्डवों के जीवित होने का समाचार मिला, तो उन्होंने उन्हें बुलाकर अपने पुत्रों तथा पांडवों में राज्य का विभाजन कर दिया। यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ नगर को युधिष्ठिर ने अपनी राजधानी बनाया और चारों दिशाओं को जीतकर

---

१. इस विषय में प्रथम सर्ग की टीका के अन्त में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत ये पद्य द्रष्टव्य हैं, जिन्हें हम किरातार्जुनीयम् का महाकाव्यत्व प्रमाणित करते समय उद्धृत कर चुके हैं।

२. इन्हीं का अनुकरण करके माघ ने 'शिशुपालवधम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'श्री' शब्द का तथा श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग किया है।

राजसूय यज्ञ किया। युधिष्ठिर की उन्नति देखकर ईर्ष्यालु दुर्योधन ने एक दूसरा षड्यन्त्र रचा। उसने अपने पिता से कहकर पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए निमन्त्रित किया। दुर्योधन के मामा शकुनि की कपटपूर्ण चाल के आगे पाण्डव दाँव के बाद दाँव हारते गये। राज्य के साथ द्रौपदी को भी हार गये। भरी सभा में दुर्योधन के आदेश पर दु:शासन ने द्रौपदी का अपमान किया। इसपर क्रुद्ध होकर भीम ने दु:शासन का रक्त पीने तथा दुर्योधन की जांघ तोड़कर उसका वध करने की प्रतिज्ञा की। उनकी प्रतिज्ञा की सूचना पाकर चतुर धृत-राष्ट्र ने पाण्डवों को बुलाकर उन्हें उनका राज्य वापस कर दिया। अपने इस षड्यन्त्र में भी असफल होने पर दुर्योधन ने उन्हें फिर द्यूतक्रीड़ा के लिए आम-न्त्रित किया। इस बार शर्त यह रही कि हारनेवाला बारह वर्ष तक वनवास एवं एक वर्ष अज्ञातवास करेगा। यदि अज्ञातवास की अवधि में वह पहचान लिया गया, तो उसे फिर उसी प्रकार तेरह वर्ष व्यतीत करने पड़ेंगे। इस बार भी पाण्डव हार गये। अपने भाइयों एवं पत्नी द्रौपदी को साथ लेकर युधिष्ठिर ने वन की राह ली और अन्त में द्वैत नामक वन में रहने लगे। किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की कथा इसके बाद की घटना से आरम्भ होती है।

किरातार्जुनीयम् की विषयवस्तु

द्वैतवन में निवास करते हुए युधिष्ठिर ने दुर्योधन की नीति एवं शासन-व्यवस्था जानने के लिए एक किरात को दूत के रूप में भेजा। ब्रह्मचारी वेश में राज्य में घूमकर सभी समाचार जानकर वह वनेचर युधिष्ठिर के पास लौटा।

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ सर्ग १, पद्य १

वनेचर ने युधिष्ठिर से दुर्योधन की नीति के विषय में बताया है कि किस प्रकार वह कपट से जीती हुई पृथ्वी को प्रजा के प्रति उत्तम व्यवहार कर जीतना चाहता है। सारी बातें बताकर वनेचर लौट जाता है। शत्रु के अभ्यु-दय का समाचार जानकर तथा अपने पतियों की दुर्दशा देखकर द्रौपदी अत्यन्त दुःखित होती है। धर्मराज युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने के लिए एवं शत्रु से शीघ्र ही बदला लेने के लिए नीतियुक्त वचन कहती है। द्रौपदी के वचनों के बाद भीम भी द्रौपदी के वचनों की पुष्टि करते हैं तथा अपने बाहुबल का प्रयोग करने की आतुरता दर्शाते हैं। नीति के पारंगत युधिष्ठिर अपने वचनों

से भीम को शान्त कर देते हैं तथा उन्हें धैर्यपूर्वक उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने का उपदेश देते हैं। इसी बीच भगवान् व्यास आते हैं। वे अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्ति के लिए तपस्या करने को कहते हैं। व्यास के भेजे गए गुह्यक के साथ अर्जुन तपस्या करने के लिए इन्द्रकील नामक पर्वत पर पहुँचते हैं और घोर तपस्या आरम्भ कर देते हैं। उनकी तपस्या देखकर इन्द्र घबड़ा जाते हैं और उसे भंग करने के लिए अप्सराओं को भेजते हैं। अर्जुन का व्रत भंग नहीं होता, वे अप्सराओं के अत्यन्त कामोत्तेजक रूप एवं विलास से प्रभावित नहीं होते। इन्द्र उन्हें शिव की तपस्या करने का उपदेश देते हैं। अर्जुन पुनः तपस्या करते हैं। इधर एक मायावी दैत्य अर्जुन को मारने के लिए सूअर का रूप धारण करता है। इस बात को जानकर भगवान् शिव भी अर्जुन की रक्षा के लिए किरात का वेश धारण करते हैं। सूअर को अपनी ओर आते देखकर अर्जुन शंकाएँ करते हैं और अन्त में सूअर की घातक प्रवृत्ति देखकर उस पर बाण छोड़ते हैं, साथ ही किरातरूपधारी शिव भी बाण छोड़ते हैं। बाण के लिए अर्जुन और किरात में विवाद चलता है और फिर अर्जुन तथा किरात-वेशधारी शिव में युद्ध आरम्भ हो जाता है। अस्त्र-शस्त्रों के युद्ध के बाद वे मल्ल युद्ध पर उतर आते हैं। अर्जुन की वीरता से भगवान् शिव प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं और वरदान देते हैं। अर्जुन की दिव्यास्त्र-प्राप्ति की अभिलाषा पूरी होती है तथा इन वचनों के साथ महाकाव्य भी पूरा होता है—

व्रज जय रिपुलोकः पादपद्मानतः सन्,
गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसङ्घैः।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥

'जाओ अपने शत्रुओं को जीतो' ऐसा आशीर्वाद प्राप्त कर अर्जुन लौट आते हैं एवं युधिष्ठिर के चरणों में प्रणाम करते हैं।

किरातार्जुनीयम् में १८ सर्गों में कथावस्तु का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

पहला सर्ग—वनेचर द्वारा दुर्योधन की प्रजानीति का वर्णन, द्रौपदी द्वारा युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने के लिए नीतिपूर्ण उपदेश।

दूसरा सर्ग—भीम का युधिष्ठिर के प्रति वचन तथा शत्रु के प्रति बल-प्रयोग का परामर्श, युधिष्ठिर द्वारा धैर्य एवं प्रतीक्षा करने की आवश्यकता पर बल। व्यास का आगमन।

तीसरा सर्ग—व्यास का स्वरूप, अर्जुन को पाशुपत अस्त्र-प्राप्ति के लिए तपस्या करने का उपदेश ।

चौथा सर्ग—शरद् ऋतु तथा हिमालय पर्वत का वर्णन ।

पाँचवा सर्ग—हिमालय का वर्णन, हिमालय के मूल में अर्जुन का तपस्या के लिए प्रवेश ।

छठा सर्ग—अर्जुन का पर्वतारोहण, वनरक्षकों का इन्द्र के पास पहुँचकर उन्हें अर्जुन की कठोर तपस्या से अवगत कराना ।

सातवाँ सर्ग—गन्धर्व तथा अप्सराएँ इन्द्रकील पर्वत पर जाती हैं, जहाँ वे अनेक प्रकार की कामोत्तेजक क्रीड़ाएँ करती हैं । उनके सन्निवेश का वर्णन किया गया है ।

आठवाँ सर्ग—गन्धर्वों तथा अप्सराओं की फूलों की क्यारियों में तथा जलाशयों में की गयी क्रीड़ाओं का वर्णन ।

नवाँ सर्ग–सायंकाल, चन्द्रोदय, मद्यपानगोष्ठी और प्रभातकाल का वर्णन ।

दसवाँ सर्ग—अर्जुन को मोहित करने के लिए अप्सराएँ उनके पास जाती हैं । अर्जुन का वर्णन, वर्षा आदि ऋतुओं का वर्णन । अर्जुन के समक्ष अप्सराओं द्वारा की गई अनेक विलास-चेष्टाओं का वर्णन । उनके प्रयत्नों की विफलता ।

ग्यारहवाँ सर्ग—अर्जुन के आश्रम में मुनिरूपधारी इन्द्र का प्रवेश । अर्जुन तथा इन्द्र का वार्तालाप । इन्द्र द्वारा प्रत्यक्ष होकर शिव की आराधना करने का उपदेश ।

बरहवाँ सर्ग—अर्जुन द्वारा शिव की तपस्या । भगवान् शिव द्वारा मुनियों को सान्त्वना । मूक दानव का सूकर रूप धारण करना और अर्जुन की ओर आना । उसके वध के लिए सेना सहित शिव का अर्जुन के समीप आना ।

तेरहवाँ सर्ग—सूअर को देखकर अर्जुन का तर्क-वितर्क, सूअर के ऊपर अर्जुन तथा शिव का बाण चलाना, सूअर की मृत्यु, शिव द्वारा भेजे गए वनेचर की अर्जुन के प्रति उलाहनापूर्ण उक्ति ।

चौदहवाँ सर्ग—वनेचर के प्रति अर्जुन की उक्ति तथा शिव का किरात के रूप में युद्ध के लिए आना ।

पन्द्रहवाँ सर्ग—चित्रयुद्ध का वर्णन ।

सोलहवाँ सर्ग—किरातवेशधारी शिव के युद्धकौशल के विषय में अर्जुन के तर्क-वितर्क ।

सत्रहवाँ सर्ग—युद्ध का वर्णन ।

अट्ठारहवाँ सर्ग—अर्जुन और शिव का बाहुयुद्ध। भगवान् शंकर का प्रकट होना। इन्द्रादि देवों का आगमन। अर्जुन द्वारा शिव की स्तुति, भगवान् शिव द्वारा अर्जुन को धनुर्वेद का उपदेश। वरदान तथा दिव्यास्त्र प्राप्त कर अर्जुन का वन में युधिष्ठिर के पास लौटकर आना।

महाभारत और किरातार्जुनीयम् में अन्तर

'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य की कथा महाभारत के वनपर्व के अर्जुनाभिगमन नामक खंड से और उसी पर्व के कैरातपर्व से ली गई है। अर्जुनाभिगमनपर्व के सत्ताइसवें और अट्ठाइसवें अध्यायों में द्रौपदी युधिष्ठिर से उनके क्रोध को उद्दीप्त करनेवाले वचन कहती है। उसके बाद युधिष्ठिर क्रोध का परित्याग करने तथा शांति का मार्ग अपनाने का उपदेश देते हैं। तीसवें, इकतीसवें और बत्तीसवें अध्यायों में द्रौपदी तथा युधिष्ठिर के बीच वार्तालाप है, जिसमें युधिष्ठिर क्षमा के मार्ग की तथा द्रौपदी शत्रु से प्रतीकार करने की बात युक्ति से प्रस्तुत करती है। आगे के तीन अध्यायों में (३४–३६) युधिष्ठिर तथा भीम के वार्तालाप हैं। छत्तीसवें अध्याय में व्यास आते हैं। सैंतीसवें अध्याय में अर्जुन युधिष्ठिर की आज्ञा से इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने जाते हैं। कैरातपर्व के अड़तीसवें अध्याय में अर्जुन की कठोर तपस्या के विषय में भगवान् शंकर तथा अन्य मुनियों में वार्तालाप है। अगले अध्याय में किरातवेशधारी शिव तथा अर्जुन का युद्ध होता है। भगवान् शिव प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं और अर्जुन शिव की स्तुति करते हैं। पाशुपत अस्त्र देकर भगवान् शिव प्रस्थान करते हैं (चालीसवाँ अध्याय) तथा अन्त में देवतागण अर्जुन को दिव्य अस्त्र प्रदान करते हैं (इकतालीसवाँ अध्याय)।

यद्यपि 'किरातार्जुनीयम्' की कथा महाभारत की ही कथा है, तथापि कवि ने अपनी प्रतिभा से बहुत-से परिवर्तन कर दिये हैं और अपनी ओर से पर्याप्त सामग्री जोड़ दी है। यदि कवि ने केवल महाभारत की कथा को ही ग्रहण किया होता, तो सम्पूर्ण महाकाव्य केवल सात सर्गों में समाप्त हो सकता था। चौथे सर्ग से लेकर दसवें सर्ग तक के अंश के तथा युद्धविषयक दो सर्गों के न रहने पर भी कथा में कोई हानि नहीं होती। किन्तु हमारे कवि ने इस कथा को १८ सर्गों में वर्णित किया, नवीन रुचि प्रदान की तथा सजीवता प्रदान की। महाभारत की कथा तथा किरातार्जुनीयम् की कथावस्तु में निम्नलिखित अन्तर विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

१. सर्वप्रथम कवि ने पात्रों के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। महाभारत के उद्धत भीम भारवी के हाथों एक सुयोग्य राजनीतिज्ञ बन जाते हैं।

२. महाभारत में व्यास मन्त्र का उपदेश युधिष्ठिर को देते हैं और युधिष्ठिर अर्जुन को, किन्तु किरातार्जुनीयम् में व्यास अर्जुन को ही उपदेश देते हैं।

३. महाभारत में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर मन की गति से भी तीव्र मन्त्र की शक्ति से पहुँच जाते हैं। किरातार्जुनीयम् में यक्ष उन्हें पहुँचाता है।

४. 'किरातार्जुनीयम्' में इन्द्र अर्जुन को मोहित करने के लिए अप्सराओं को भेजते हैं। इन अप्सराओं तथा इनकी क्रीड़ाओं का वर्णन किरातार्जुनीयम् में चार सर्गों में किया गया है। इन्द्र एक तपस्वी का वेश धारण करते हैं और अर्जुन को तपस्या से विरत होने का उपदेश देते हैं। महाभारत के अनुसार अर्जुन के इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचते ही इन्द्र तपस्वी वेश में उपस्थित होते हैं।

५. महाभारत में शिव किरात का वेश धारण कर उमा के साथ आते हैं और अर्जुन से अकेले लड़ते हैं। 'किरातार्जुनीयम्' के अनुसार वे सेना सहित लड़ते हैं, किन्तु अर्जुन उनकी सेना को तितर-बितर कर देते हैं। सेना का वर्णन कर कवि अर्जुन की वीरता के महत्त्व की वृद्धि कर देता है। युद्ध के वर्णन में भी कवि भारवि का वर्णन अधिक सजीव है, जब कि महाभारत का युद्धवर्णन नीरस एवं शुष्क है।

६. युद्ध का अन्त भी दोनों में भिन्नरूप से होता है। महाभारत में अर्जुन बेहोश हो जाते हैं और जब होश में आते हैं, तो किरात के सिर पर वहीं माला देखते हैं, जो उन्होंने शिवमूर्ति पर चढ़ायी थी और उसी के कारण शिव को पहचान लेते हैं। 'किरातार्जुनीयम्' के अनुसार जब द्वन्द्वयुद्ध में अर्जुन शिव का पैर पकड़ते हैं, तो शिव प्रसन्न होकर प्रकट हो जाते हैं। वे उन्हें हृदय से लगा लेते हैं तथा पाशुपत-अस्त्र प्रदान करते हैं।

७. इसके अतिरिक्त भारवि ने अर्जुन की तपस्या का, वनस्थली एवं वन का तथा नाना दृश्यों का सजीव वर्णन कर 'किरातार्जुनीयम्' को कमनीय एवं मनोरम कलेवर प्रदान किया है।

८. कवि ने अपने पात्रों को मानव प्राणियों की तरह प्रस्तुत किया है। महाभारत की कथा का अतिमानवीय तत्त्व 'किरातार्जुनीयम्' में गौण हो जाता है।

९. प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से भी 'किरातार्जुनीयम्' महाभारत से भिन्न है। और यह सौन्दर्य इस महाकाव्य में ही देखा जा सकता है।

प्रथम सर्ग का वर्ण्य-विषय

जुए में दूसरी बार पराजित होकर शर्त के अनुसार युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा द्रौपदी के साथ द्वैतवन में निवास करने लगे। वहाँ निवास करते हुए उन्होंने एक चतुर वनवासी किरात को दुर्योधन की प्रजा के प्रति नीति को जानने के लिए गुप्तचर नियुक्त कर भेजा। ब्रह्मचारी वेशधारी वनेचर दुर्योधन के राज्य का सभी वृत्तान्त जानकर युधिष्ठिर के पास लौटकर आया। उसने महाराज युधिष्ठिर को प्रणाम किया और एकान्त में उनका आदेश पाकर शब्दसौष्ठव और अर्थगाम्भीर्य से युक्त वचन कहने लगा—'हे महाराज, कार्य में लगाये गये सेवकों का यह कर्त्तव्य है कि वे स्वामियों को धोखा न दें, क्योंकि स्वामी लोग सेवकों के माध्यम से ही सभी कुछ जानते हैं, अतः मेरे कथन में यदि कुछ अप्रिय बात हो तो उसे क्षमा करेंगे, क्योंकि हितकारी और मनोहर वचन दुर्लभ होते हैं। जो मन्त्री राजा को उचित उपदेश नहीं देता, वह कुत्सित होता है और जो राजा हितेच्छु मन्त्री की सलाह नहीं मानता, वह योग्य राजा नहीं होता। मन्त्रियों और राजाओं में परस्पर अनुकूलता होने पर ही राज्य की समृद्धि होती है। राजाओं का चरित्र दुर्बोध होता है, मेरे जैसा मन्दबुद्धि व्यक्ति उसे भला कैसे जान सकता है? फिर भी शत्रुओं के गुप्त रहस्यों का जो कुछ भेद मैं पा सका, वह आपका ही प्रभाव है। सिंहासन पर आसीन होकर भी दुर्योधन आपसे भयभीत है और पराजय की आशंका करता है, अतः कपट से जीते गए राज्य को उत्तम नीति का आचरण कर अपने वश में करने के लिए प्रयत्नशील है। कुटिल होते हुए भी वह गुणों का अर्जन करके अपनी कीर्ति का विस्तार कर रहा है। काम-क्रोधादि मानसिक विकारों को जीत कर वह मनु द्वारा प्रतिपादित राजधर्म के मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहा है और दिन तथा रात्रि विभाजन कर, आलस्य त्याग कर अपने प्रभाव को बढ़ा रहा है। सेवकों के साथ मित्रों की तरह, मित्रों के साथ सम्बन्धियों की तरह एवं सम्बन्धियों के साथ आत्मीयों की तरह व्यवहार कर राज्य के सभी वर्ग को सम्मान देता है, सभी में सन्तोष है। धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करता है और ये सभी दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ रहे हैं। साम, दान, दण्ड भेद आदि उपायों का भी दुर्योधन बड़ी दक्षता से प्रयोग करता है। मधुर वचन से लोगों को अपने वश में करने के लिए दान देता है; दान के साथ यथोचित सत्कार करता है। विशेष रूप से सत्कार भी गुणों के आधार पर ही करता है।

न्यायपालन में भी वह निष्पक्ष है और केवल कर्त्तव्य-पालन की भावना से अपराध करने पर शत्रु को और पुत्र को भी दण्ड देने में नहीं हिचकता। धन के लोभ या क्रोध के वशीभूत होकर ही किसी को दण्ड नहीं देता। शत्रुओं में भेद डालने में चतुर स्वजनों को रक्षक नियुक्त कर उनके ऊपर शङ्का करता हुआ भी वह शङ्कारहित-सा आचरण करता है, सेवक जब उसका कार्य पूरा कर देते हैं, तो उन्हें प्रचुर धन देकर अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करता है। सभी उपायों का दुर्योधन ने सुन्दर ढंग से विनियोग किया है और वे सुन्दर परिणाम उत्पन्न कर रहे हैं, उसकी समृद्धि का भविष्य उज्ज्वल बना रहे हैं। धनसम्पत्ति उसके पास इतनी प्रचुर है कि उसके सभाभवन का आंगन घोड़ों और रथों से खचाखच भरा है तथा कर देनेवाले राजाओं द्वारा उपहार में दिये गये हाथियों के मदस्राव से गीला हो गया है। कृषकवर्ग भी खुशहाल और बिना परिश्रम के ही नदियों के जल से सिंचाई करके फसल पा रहे हैं। वर्षा के ऊपर आश्रित नहीं हैं क्योंकि दुर्योधन उनकी भलाई करने में तत्पर है। पृथ्वी उसके गुणों के कारण एक दुधारू गाय की तरह अनेक प्रकार के धन उत्पन्न कर रही है। उसके सैनिक भी अनुकूल हैं। वीर, यशस्वी, धनुर्धारी योद्धा बिना किसी गुट-बन्दी और पारस्परिक विरोध के उसका प्रिय कार्य करने में प्राणों की बाजी लगाकर जुटे हुए हैं। स्वामिभक्त दूतों के द्वारा वह अपने अधीन राजाओं की सभी बातों को जान लेता है। उसकी योजनाएँ इतनी गोपनीय रहती हैं कि कार्य हो जाने के बाद ही पता चलता है कि दुर्योधन क्या चाहता था। सभी राजा उनके मित्र हो गए हैं। उसे धनुष उठाने की या क्रोध से भौंह टेढ़ी करने की भी आवश्यकता नहीं है। राजागण उसकी आज्ञा को फूलों की माला की तरह शिरोधार्य करते हैं। इन सबके अलावा वह धर्म कर्म में भी लगा हुआ है। अपने अनुज नवयुवक दुःशासन को युवराज बनाकर पुरोहित के आदेश से यज्ञ भी कर रहा है किन्तु इन सबके बावजूद निष्कण्टक पृथ्वी का शासक होकर भी आपसे पराजय की आशंका करके वह भयभीत है। इसका प्रमाण यह है कि यदि सभा में वार्तालाप में आपका नाम ले लेता है, तो अर्जुन के अतुल पराक्रम का ध्यान कर वह दुःखी हो जाता है और अपना सिर लटका लेता है। वह आपके साथ कुटिलता करने में तत्पर है, अतः आप उसका प्रतीकार कीजिए।'

इस प्रकार कहकर और युधिष्ठिर से पुरस्कार आदि के रूप में सत्कार प्राप्त कर वनेचर चला गया। युधिष्ठिर ने भी महल में प्रवेश करके द्रौपदी एवं

भाइयों के सामने वनेचर द्वारा बताया गया सारा वृत्तान्त कह सुनाया। शत्रुओं की समृद्धि का समाचार सुनकर द्रौपदी अपने मनोवेग को रोक न सकी और युधिष्ठिर के क्रोध को भड़का कर शत्रु से बदला लेने के लिए प्रेरित करती हुई कहने लगी—'हे राजन्! आप जैसे विज्ञ लोगों के प्रति स्त्री का कुछ कहना तिरस्कार के समान है, फिर भी मेरे मन की व्यथाएँ मुझे नारी के उचित व्यवहार को भूलकर कुछ कहने के लिए बाध्य कर रही हैं। अपने इन्द्रतुल्य पराक्रमी पूर्वजों द्वारा चिरकाल तक अधीन की गई पृथ्वी को तुमने वैसे ही त्याग दिया है, जैसे मदस्रावयुक्त हाथी माला को फेंक देता है। जो लोग छल करनेवालों के प्रति छल नहीं करते, वे धूर्तों का शिकार बन जाते हैं। धूर्त उनके रहस्यों का भेद लेकर उन्हें नष्ट कर देते हैं। गुणों से अनुरक्त अपने कुल में उत्पन्न अपनी वधू जैसी राजलक्ष्मी का शत्रुओं के द्वारा अपहरण करानेवाला आपके सिवा भला और कौन होगा? आप इस मानिजनों द्वारा निन्दित मार्ग में चल रहे हैं, आपके क्रोध की अग्नि अब भी क्यों नहीं भड़कती? जिस व्यक्ति का क्रोध खाली नहीं जाता, उसके अधीन सभी हो जाते हैं। जिसमें क्रोध नहीं, उसकी मित्रता या शत्रुता को कोई महत्त्व नहीं देता। जरा देखिए तो, जो भीम पहले शोक से लालचन्दन लगाते थे, अब वे ही धूल-धूसरित होकर पर्वत में इधर-उधर भटकते हैं। इन्हें देखकर आपके मन में दुःख नहीं होता क्या? जिस धनंजय ने उत्तर कुरु देश को जीतकर सोने-चाँदी की महान् राशि लाकर दी थी, उसे अब वल्कल-वस्त्र ढोते देखकर भी आपको शत्रु पर क्रोध नहीं आता? वन की भूमि पर सोने से जिनके शरीर कठोर हो गये हैं और बाल बढ़ गये हैं, ऐसे इन दोनों जुड़वाँ भाइयों—नकुल-सहदेव को देखकर भी आप अपने धैर्य और संयम को छोड़ने का साहस भला क्यों नहीं करते? मैं तुम्हारी इस बुद्धि को नहीं समझ पा रही हूँ। सचमुच, लोगों की मनोवृत्तियाँ अजीब होती हैं। मैं जितना ही आपकी इस घोर विपत्ति के बारे में सोचती हूँ, मेरा हृदय उतना ही बलात् विदीर्ण होता है। आप अपनी हालत तो देखिए; जो पहले बहुमूल्य पलंग पर सोने के बाद बन्दियों के स्तुति और मंगल गीतों को सुनकर जागते थे। वही अब कुश-कण्टक वाली भूमि पर सोने के बाद सियारिनियों के अशुभ शब्द सुनकर निद्रा छोड़ते हैं। आपका यह शरीर जो पहले ब्राह्मणों को खिलाने के बाद बचे हुए अन्न खाने से पुष्ट और सुन्दर दिखाई पड़ता था, वही अब जंगली फल-मूल खाने से दुबला

होता जा रहा है। ये चरण, जो पहले मणिपीठ पर रहते थे और प्रणाम करने वाले राजाओं के सिर की मालाओं के पराग से रंजित होते थे, वे ही अब कटे हुए कुशों के बीच रहते हैं, यह हालत शत्रुओं ने कर रखी है, इसी कारण मेरा मन समूल उखड़ सा रहा है। शक्ति बनी रहे तो शत्रु द्वारा पराजय भी मानी लोगों को बुरी नहीं लगती। राजन्! अब शान्ति छोड़िए। क्षत्रियों के तेज को धारण कीजिए। शान्ति का अवलम्बन करके निष्काम मुनि लोग सिद्धि प्राप्त करते हैं, राजा लोग नहीं। आप जैसे तेजस्वियों में अग्रणी व्यक्ति यदि इस प्रकार का अपमान सहकर संतोष करके बैठ जायें, तो इस संसार से मनस्विता समाप्त ही हो चुकी। यदि क्षमा और शान्ति को ही हमेशा के लिए सुख का साधन मानते हो, तो धनुष फेंककर जटाएँ धारण कर लो और यहाँ वन में बैठकर अग्नि में आहुति करो। शत्रु अपकार करने में लगा है, इसलिए तुम्हें अत्यन्त तेजस्वी होते हुए, समय की प्रतीक्षा करने और शर्त का पालन करने की आवश्यकता नहीं। विजय चाहनेवाले राजा किसी बहाने सन्धि को तोड़कर शत्रु से बदला लेते हैं। दैव और समय के नियम से आपत्ति के समुद्र में पड़े हुए धन और साधनहीन होने के बाद उन्नति के लिए प्रयत्न करते हुए आपको राजलक्ष्मी उसी प्रकार प्राप्त होवे, जैसे रात्रि के अन्धकार से निकलते हुए सूर्य को तेज मिलता है।'

विषयवस्तु-विश्लेषण

पद्य १–३ : उपक्रम।

पद्य ४ से २५ : वनेचर की उक्ति। दुर्योधन की नीति का वर्णन, सेवकादि के प्रति व्यवहार, त्रिवर्ग, चार उपाय, धन-सम्पत्ति, कृषि और प्रजासुख, योद्धागण, गुप्तचर, मित्रता, धार्मिकता का वर्णन।

पद्य २६ : वनेचर का प्रस्थान और युधिष्ठिर का भवन में प्रवेश।

पद्य २७ : द्रौपदी के कथन का उपक्रम।

पद्य २८–४६ : युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की उक्ति।

भारवि का व्यक्तिगत जीवन

संस्कृत साहित्य के कवियों में कालिदास के बाद भारवि का दूसरा स्थान है। कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में हमारा ज्ञान अनिश्चित-सा ही है। कदाचित् हमारे कवि को अत्यधिक निर्धनता का जीवन व्यतीत करना पड़ा था, जैसे जीवन का वरदान सदा से सभी भाषा के कवियों को मिलता रहा है। अपने

यौवन में उनकी प्रतिमा का आदर करनेवाला तथा उन्हें आश्रय प्रदान करने वाला भी उन्हें शायद कोई न मिला था। भारवि की निर्धनता के विषय में एक रोचक कथा भी प्रचलित है। भारवि के घर में निर्धनता का ताण्डव हो रहा था और भारवि थे कि काव्य-साधना में ही खोये रहते थे। कविप्रिया कवि की लापरवाही कब तक सहती! समय-समय पर खरी-खोटी सुनाती रहती। पत्नी की डाँट फटकार से कवि ने अपनी अकर्मण्यता का अनुभव किया, उसका आसन डोला और वह चल पड़ा जीविका की खोज में राजा का आश्रय ढूंढ़ने। कुछ ही दूर गया होगा कि एक सुन्दर सरोवर मिला। प्रकृति के प्रेमी कवि के लिए सरोवर का आकर्षण प्रबल हो चला और वह वहीं विश्राम करने लगा। वहीं कवि ने इस श्लोक की रचना की।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

जिस राजा से भेंट करने के लिये कवि चला था, वह उधर ही शिकार खेलता आ निकला। कवि ने इस पद्य को सुनाया। इस रचना से राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ और उन्हें राजभवन चलने को कहकर शिकार के लिए चल पड़ा। राजा कवि के इस श्लोक को भी साथ लेता गया। उधर जब भारवि सुदामाजी की तरह राजमहल के फाटक पर पहुँचे, तो उन्हें प्रवेश करने का अधिकार नहीं मिला और निराश होकर वैसे ही लौटना पड़ा, जैसे प्रायः गुणी और विद्वान् को भी बाह्याडम्बर के अभाव से तिरस्कार सहना पड़ता है। राजा ने कवि के इस श्लोक को अपने महल में स्वर्णाक्षरों में अंकित कराया था। लगभग एक वर्ष बाद वह पुनः एक दिन शिकार पर निकला, राजा एक सप्ताह के लिए राजधानी से बाहर रहने की योजना बनाकर निकला था, किन्तु दूसरी रात नगर के निकट ही पड़ाव होने से महल में वापस आया। उसने अपनी शय्या पर अपनी रानी के समीप किसी व्यक्ति को सोते देखा। व्यभिचार की कल्पना कर अत्यन्त क्रोधावेश में वह तलवार से उन दोनों का काम तमाम करनेवाला ही था कि उसका ध्यान कक्ष में अंकित उन स्वर्णाक्षरों की ओर गया 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' और उसने उन दोनों को जगाकर यथोचित दण्ड देने का विचार किया। जब उसने दोनों को जगाया, तो यह देखकर स्तंभित रह गया कि रानी के पास उसी का इकलौता बेटा था, जिसे पैदा होते ही एक दासी चुरा ले गयी थी और जो उसी रात मिला था। राजा ने उस

कवि का पता लगाया, जिसके श्लोक की पंक्ति ने उसे शोकसागर में डूबने से बचाया और उसे अतुल धनराशि देकर सम्मानित किया।

यह एक किंवदन्ती ही है, जिससे भारवि के व्यक्तिगत जीवन पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में उसका एकमात्र महाकाव्य एकदम मौन है। 'किरातार्जुनीयम्' से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ये शैव थे। अपने पिता, पितामह या गुरु किसी का भी उल्लेख इन्होंने अपनी रचना में नहीं किया है, जैसा कि भवभूति और बाण ने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में स्वयं ही अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। भारवि ने अपने परिवार या निवासस्थान के विषय में भी कोई संकेत नहीं दिया है।

अवन्तिसुन्दरीकथा नामक गद्य रचना दण्डी की बतायी जाती है। पद्य में एक अन्य रचना भी प्राप्त हुई है, जिसका नाम है अवन्तिसुन्दरीकथासार। इसमें दण्डी ने अपनी वंशावली दी है। इस पद्यात्मक रचना में दिये विवरण के अनुसार आनन्दपुर में कुशिकगोत्र के ब्राह्मण रहते थे, जो बाद में जाकर अचलपुर या बरार के अन्तर्गत एलिचपुर में रहने लगे थे। इसी वंश में नारायण स्वामी उत्पन्न हुए। इनके पुत्र का नाम दामोदर था, यही दामोदर भारवि नाम से विख्यात हुए। इनके विषय में निम्नलिखित श्लोक उक्त ग्रन्थ में मिलता है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवो गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

दामोदर के तीन पुत्र थे, जिसमें दूसरे पुत्र मनोरम के चार पुत्र हुए। इन चारों में वीरदत्त नाम के पुत्र ने गौरी नाम की कन्या से विवाह किया और इसी वीरदत्त तथा गौरी के पुत्र थे दण्डी। इस प्रकार अवन्तिसुन्दरीकथा के अनुसार भारवि दण्डी के प्रपितामह हुए। किन्तु यह निश्चयात्मक तथ्य नहीं है।

भारवि पहले क्षत्रिय-नरेश विष्णुवर्धन के आश्रित थे। बाद में वे राजा दुर्विनीत के मित्र हो गये। दुर्विनीत ने 'किरातार्जुनीयम्' के सर्वाधिक क्लिष्ट अंश पन्द्रहवें सर्ग पर टीका भी लिखी। अन्त में भारवि पल्लववंशी सम्राट् सिंहविष्णु के दरबार में रहने लगे। अवन्तिसुन्दरीकथा के अनुसार कवि का निवासस्थान एलिचपुर ही सिद्ध होता है, किन्तु स्वर्गीय प्रो० आर० आर० भागवत ने निम्नलिखित श्लोक में उल्लिखित सह्य पर्वत के आधार पर इनका निवासस्थान दक्षिण भारत में माना है।

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥

किन्तु इस कथन से पूर्णरूपेण सहमत नहीं हुआ जा सकता । यह संभव है कि कवि ने पश्चिमी समुद्रतट पर भ्रमण किया हो और सूर्य को अस्त होने के समय समुद्र में गिरते देखा हो, जैसा अपने काव्य में दो-तीन स्थलों पर उसने वर्णित किया है—प्रथम सर्ग के अन्तिम पद्य में 'शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्य-योधौ' नवें सर्ग के दूसरे पद्य में 'तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे' तथा उसी सर्ग के पाँचवें पद्य में 'सामि मज्जति रवौ न विरेजे' । किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि वे एलिचपुर के निवासी नहीं थे । महाकवि भारवि का हिमालय-वर्णन उतना स्वाभाविक नहीं बन पड़ा है, जितना कालिदास का वर्णन है । कहीं-कहीं तो वह खटकने वाला है और प्रतीत होता है उन्होंने भारत के उत्तरी भागों का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया था । इससे भी निवासस्थान का दक्षिण में होना प्रकट होता है ।

किरातार्जुनीयम् से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि एक धुरन्धर पण्डित थे । वे राजनीति के उत्कृष्ट ज्ञाता थे । उनका राजनीति का ज्ञान इस महाकाव्य में अनेक पात्रों की उक्तियों के माध्यम से साकार हो उठा है ।

भारवि का समय

महाकवि भारवि ने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में अपनी रचना में कुछ भी संकेत नहीं दिया है । इनके स्थितिकाल का निश्चयपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं, तथापि कुछ प्रमाणों के आधार पर इनका समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है । इनके समय के विषय में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के मत प्रस्तुत किये हैं । प्रोफेसर कीथ ५०० ई० की अपेक्षा ५५० ई० को भारवि का समय मानना अधिक उपयुक्त समझते हैं । मैकडोनल के अनुसार किरातार्जुनीयम् छठी शताब्दी के बाद की रचना नहीं हो सकती, इसका कारण यह है कि भारवि का उल्लेख ६३४ ई० के ऐहोल शिलालेख में हुआ है । एस० के० डे ने भारवि का समय सातवीं शताब्दी का आरम्भ माना है । याकोबी नाम के जर्मन विद्वान् ने भारवि का समय छठी शताब्दी का प्रारम्भ माना है, जब कि हरिहर शास्त्री नाम के विद्वान् ने यह समय सातवीं शताब्दी का अन्त माना है ।

भारवि की तिथि का निर्धारण करने में निम्नलिखित बातों का विचार किया जाता है ।

१. दक्षिण चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के ऐहोल शिलालेख में भारवि का नाम कालिदास के साथ लिया गया है—

'स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।'

यह शिलालेख बीजापुर में ऐहोल ग्राम के एक जैन मन्दिर में मिला है, इसका समय शकाब्द ५५६ अर्थात् ६३४ ई० है। प्रशस्ति लेखक रविकीर्ति कोई जैन कवि हैं, जो अपने को कालिदास और भारवि के समान यशस्वी बताते हैं। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पहले भारवि इतनी प्रसिद्धि पा चुके थे कि उनका नाम कालिदास के नाम के साथ लिया जाने लगा था। इस प्रकार इनका समय ५५० के बाद होना चाहिए।

२. चूंकि भारवि का नाम कालिदास के नाम के साथ लिया है; अतः कहा जा सकता है कि ये दोनों समकालीन रहे होंगे किन्तु यह उचित नहीं। दोनों की शैली में इतना अन्तर है कि दोनों दो भिन्न-भिन्न युगों के कवि हैं। दोनों की काव्यधाराएँ एक-दूसरे से विपरीत हैं। कालिदास के भारवि तक पहुँचने में पाँच शताब्दी का समय लग ही गया होगा।

३. भारवि महाकवि कालिदास से प्रभावित हैं और दूसरी ओर शिशुपालवधम् के रचयिता माघ भारवि से प्रभावित हैं। अतः भारवि का समय निश्चित रूप से कालिदास के काफी बाद और माघ से पहले का सिद्ध होता है। इसमें दो मत नहीं है।

४. गङ्ग-नरेश दुर्विनीत के समय के गुमरेड्डीपुर के लेख से ज्ञात होता है कि दुर्विनीत ने किरातार्जुनीयम् के क्लिष्टतम अंश पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी—'अविनीतनाम्नः पुत्रेण···किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण···दुर्विनीतनामधेयेन···'। इस लेख के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु नवीनतम अन्वेषणों के आधार पर दुर्विनीत का राज्यकाल ५८० ई० सिद्ध होता है और भारवि का समय इसके बाद कदापि नहीं रखा जा सकता।

५. अवन्तिसुन्दरीकथासार नामक पद्यात्मक ग्रन्थ के आधार पर, जो दण्डीरचित कहा गया है, दण्डी के प्रपितामह दामोदर ही भारवि थे, जिनके विषय में उक्त पद्यात्मक रचना का २२ वाँ श्लोक है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवो गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

इस सूचनास्रोत के अनुसार भारवि विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। विष्णुवर्धन पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और उसने लगभग ६१५ में महाराष्ट्र पर राज्य किया। उसका समकालीन होने से भारवि का समय छठी शताब्दी का अन्त और सातवीं शताब्दी का आरम्भ सिद्ध होता है।

६. भारवि के किरातार्जुनीयम् का 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।' (किरात० ३।१४) यह उद्धरण वामन की रचना में तथा जयादित्य की काशिकावृत्ति में भी मिलता है, इस कारण किरातार्जुनीयम् का समय इन दोनों से पहले का होना चाहिए। काशिका का समय सातवीं शताब्दी ई० है।

७, बाण ने कहीं भी भारवि का नाम नहीं लिया है, इससे स्पष्ट है कि भारवि बाण से बहुत पहले नहीं रहे होंगे और न बाण के समय में वे इतने प्रसिद्ध ही हुए होंगे कि बाण उनका उल्लेख करते।

इन सभी विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारवि का समय ५५० ई० से ६०० ई० तक ही माना जा सकता है।

कवि और काव्य की समीक्षा

महाकवि भारवि निःसन्देह एक उच्चकोटि के कवि हैं। संस्कृत-साहित्य के महाकवि कालिदास के बाद के कवियों में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका एकमात्र काव्य 'किरातार्जुनीयम्' संस्कृत के पाँच महाकाव्यों में एक है। महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर किरातार्जुनीयम् पूरी तरह खरा उतरता है। वस्तुतः, कलावादी ढर्रे पर महाकाव्य लिखने का आदर्श उन्होंने ही प्रस्तुत किया, जिसका अनुकरण बाद के कवियों ने भी किया। महाकवि भारवि कलावादी कवि हैं। अन्य कलावादी कवियों में माघ ने शब्द और अर्थ की गम्भीरता पर ध्यान दिया है, तो नैषधीयचरितम् के रचयिता श्रीहर्ष ने प्रौढ़ोक्ति तथा पदलालित्य पर, किन्तु महाकवि भारवि ने अर्थ के गौरव के ऊपर विशेष ध्यान दिया है और इसमें वे बहुत सफल हुए हैं। उनकी इसी विशेषता के कारण 'भारवेरर्थगौरवम्' उक्ति प्रसिद्ध है। भारवि थोड़े से शब्दों में बहुत-सी बातें कहने में कुशल हैं। अर्थ के विस्तार को इतनी कुशलता से शब्दों के भीतर दबाकर रख देते हैं कि जब उन शब्दों के अर्थ पर ध्यान दिया जाता है, तो एक शब्द एक लम्बे वाक्य के भाव को व्यक्त करने लगता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य में एक व्यापक अर्थ का थोड़े से शब्दों में सन्निवेश कर दिया गया है।

सत्रीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥
—प्रथम सर्ग १० ।

अथवा—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥

उनके इसी अर्थगौरव को ध्यान में रखकर कृष्ण कवि ने कहा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥

शब्दों के जाल में तथा कठिन भाषा के परिवेश में भारवि की रचना कुछ कठिन भले ही लगे, किन्तु जब यह कठिनाई दूर हो जाती है, तो उनकी कविता से ऐसा रस निकलता है, जो अपने ढंग का अनूठा ही है। उनकी कविता की इसी विशेषता को मल्लिनाथ ने 'नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः' कहकर व्यक्त किया है। डा० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में 'कालिदास की कविता में द्राक्षीपाक है, अंगूर के दाने की तरह मुँह में रखते ही रस की पिचकारी छूट पड़ती है, जब कि भारवि के काव्य में नारिकेलपाक है; जहाँ नारियल को तोड़ने की सख्त मेहनत के बाद उसका रस हाथ आता है और कभी-कभी तो उसे तोड़ते समय इधर-उधर जमीन पर बह भी जाता है और उसमें से बहुत थोड़ा बचा-खुचा सहृदय की रसना का आस्वाद्य बनता है।' तात्पर्य यह है कि भारवि की कविता में बाह्य-रूक्षता के भीतर सरसता भी प्रचुर मात्रा में है और उसमें अर्थ का सुन्दर भण्डार है।

अर्थगौरव का महत्व स्वयं कवि ने स्वीकार किया है और उत्तम काव्य या वाणी के विषय में उनकी मान्यता ही यही है कि उसमें अस्पष्टता का बहिष्कार हो, अर्थगौरव पर विशेष ध्यान दिया जाय, अर्थ में पौनरुक्त्य न हो। द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर के मुख से भीम की वाणी की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २७ ॥

सच तो यह है कि कला या काव्य के विषय में महाकवि भारवि ने उपर्युक्त पद्य में अपने जिस अभिमत को प्रस्तुत किया है, उसकी दृष्टि से उनकी कविता

केवल अर्थगौरव में ही खरी उतरती है। भारवि का कोई शब्द अनावश्यक नहीं है, अपितु साभिप्राय है। उनके पास शब्दों का अनुपम भण्डार है, जो विशेष अर्थ व्यक्त करने के लिए सदैव कवि के पास तैयार है। भारवि द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अर्थ-गरिमा से युक्त है। प्रथम सर्ग में ही वनेचर की वाणी की प्रशंसा करते हुए कवि ने अपनी मान्यता को प्रस्तुत किया है—'स सौष्ठ-वौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे', और इस प्रकार अपने अर्थगौरव के पक्षपात को स्पष्ट किया है। शब्दों की अर्थवत्ता के विषय में हम निम्नलिखित पद्य को ही लें। स्पष्ट है कि प्रत्येक शब्द अर्थ में एक नयी बात जोड़ देता है और उसकी गुरुता की वृद्धि करता है—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥

भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' के रूप में एक महाकाव्य की सृष्टि की है। कथा महाभारत से लेकर भी उन्होंने अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा से एक नूतन रुचि प्रदान की है तथा अपनी कल्पना का आश्रय लेकर एक लम्बा महाकाव्य रच डाला है। जो कथा कठिनाई से सात सर्गों में आ सकती थी, उसे भारवि ने अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा की बदौलत १८ सर्गों में निबद्ध कर डाला है। अपनी वर्णन की सूक्ष्म दृष्टि से वे छोटी-छोटी वस्तु का वर्णन करने में भी नहीं चूकते हैं। जिस चित्र का वर्णन करते हैं, पूरा जी खोलकर करते हैं, मानो उन्हें स्वयं ही सन्तोष नहीं होता और इस कारण उनका वर्णन सर्वांग-पूर्ण लगता है, चाहे वह अप्सराओं को काम-केलियों का वर्णन हो, चाहे अर्जुन तथा किरात का संघर्ष या द्रौपदी और भीम के युधिष्ठिर के प्रति भावावेग को अभिव्यक्त करनेवाले वचन। वीररस के वर्णन में भारवि अद्वितीय हैं। दूसरे सर्ग में इन्होंने भीम के वचनों की सजीवता से वीररस की अनोखी सृष्टि की है तथा तेरहवें सर्ग एवं उसके आगे के सर्गों में युद्ध के वर्णन में भी उन्होंने वीररस-प्रधान सुन्दर वर्णन किया है। वीररस-प्रधान काव्य होने का गौरव भारवि की रचना को ही प्राप्त है। उनका वीररसपूर्ण वर्णन इतना प्रबल है कि वह उनके अत्यन्त वासनापरक ऐन्द्रिय-शृङ्गार वर्णन को भी आक्रान्त कर देता है और इस महाकाव्य का प्रमुख रस बन जाता है। तेरहवें सर्ग में अर्जुन के धनुष खींचने का वर्णन उदाहरण रूप में लिया जा सकता है—

प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम् ।
अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयमारुरोह शैलः ॥ १३।१६

एक ओर जहाँ भारवि वीररसमय वर्णन करने में पटु हैं वहीं दूसरी ओर वे श्रृंगार वर्णन में भी कम नहीं हैं। उनका शृङ्गार-वर्णन ऐन्द्रिय है और कहीं-कहीं वासनामय भी हो गया है, कालिदास जैसी शिष्टता और सरसता का प्रायः भारवि में अभाव है। भारवि के शृङ्गार-वर्णन में तीखापन है। यद्यपि रघुवंश के अन्तिम सर्ग में महाकवि कालिदास का संभोग-शृङ्गार वर्णन भी वासनापूर्ण वर्णन की कोटि में आता है, तथापि महाकवि भारवि इस दृष्टि से उनसे भी आगे हैं। अपने शृङ्गारवर्णन में भी मानो असन्तुष्ट होकर भारवि उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्तेजक वर्णन करने में प्रवृत्त होते हैं। अप्सराओं के वर्णन मे ही हमारे कवि ने महाकाव्य के लगभग तीन सर्ग खपा दिये हैं। आठवें, नवें और दसवें सर्गों में इनका शृङ्गारवर्णन देखा जा सकता है। अप्सराओं का वनविहार, रतिकेलि, पुष्पचयन, जलक्रीड़ा, विलास और सौन्दर्य—सभी कुछ भारवि ने नग्नता की सीमा तक वर्णित किया है। उदाहरण के लिए हम आठवें सर्ग के इस पद्य को देख सकते हैं—

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीताच्चयबन्धमंशुकम् ॥ ५१ ॥

'जलविहार के समय किसी नायिका ने हाथ में पानी लेकर नायक के ऊपर उछालना चाहा। इसे देखकर प्रिय ने हँसकर उसका हाथ पकड़ लिया। स्पर्श के कारण नायिका का मन कामासक्त हो गया, उसका नीवीबंधन ढीला हो गया, पर पानी से सिमटी हुई करधनी ने उसके अंशुक को इसी तरह रोक लिया, जैसे वह प्रिय सखी के समान ठीक समय पर नायिका की सहायता कर रही हो।'

शृङ्गार के वर्णन के साथ ही मनोरम सौन्दर्य वर्णन की भी भारवि की कविता में कमी नहीं है। अप्सराओं के सौन्दर्य का मनोरम वर्णन स्थान-स्थान पर कवि ने किया है। उदाहरण के लिए जलक्रीड़ा करती हुई सुन्दरियों का यह वर्णन—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥

'जल में स्नान करती हुई स्वर्ग की कामिनियों के लम्बे केशों के अस्त-व्यस्त

हो जाने से उनका मुख ढँक गया है। ऐसा लगता है कि भौरों के समूह ने उनके मुख को ढँक लिया हो।' भारवि के शृङ्गार तथा सौन्दर्य वर्णन के विषय में प्रो० कीथ ने ठीक ही कहा है—'अपने सर्वोत्तम रूप में उनकी शैली में एक प्रशान्त गरिमा है, जो निश्चय ही आकर्षक है, साथ ही वे सुन्दर वस्तुओं और युवतियों के सौन्दर्य-निरीक्षण एवं वर्णन में भी औरों से आगे हैं।'

प्रकृतिचित्रण का सौन्दर्य भी भारवि की कविता में प्रचुर मात्रा में मिलता है। महाकाव्य होने के नाते किरातार्जुनीयम् में प्रकृति का, पर्वत, ऋतुओं, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का वर्णन कवि ने किया ही है। चौथे, पाचवें तथा छठें सर्गों में ऋतुओं का तथा हिमालय पर्वत का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है तथा नवें सर्ग में सन्ध्या, चन्द्रमा तथा प्रभातकाल का वर्णन है। इनके प्रकृति-चित्रण की भी वही विशेषता है, जो सामान्यतः इनकी वर्णनप्रतिभा में मिलती है, अर्थात् वर्णन की सूक्ष्मता तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने की प्रवृत्ति। इस कारण इनके वर्णन में सजीवता तो है, किन्तु वह सरलता और हृदयावर्जकता नहीं है, जो कालिदास में मिलती है। उदाहरण के लिए इनका हिमालय-वर्णन वैसा नहीं बन पड़ा है, जैसा कालिदास ने 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम सर्ग में किया है। चौथे सर्ग में शरद् ऋतु का वर्णन अत्यन्त नैसर्गिक तथा प्रभावोत्पादक है—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥४।३६

'शिरीष के फूलों की तरह कोमल हरे रङ्ग के तोतों की पाँति मूँगे के टुकड़ों की तरह लाल-लाल चोंचों में धान की पीली बालियाँ लेकर आकाश में उड़ रही है। इन सभी रंगों के मिलने से प्रतीत होता है कि आकाश में इन्द्रधनुष ही उग आया हो।'

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥५।३९

भारवि के वर्णन का एक और उदाहरण यह है, जिसके कारण इन्हें 'आतपत्र-भारवि' कहा जाता है।

अर्थात् गुलाब के वन से उड़कर गुलाब के फूलों का पराग आकाश में छिटक गया है। हवा उसे आकाश में चारों ओर फैलाकर मण्डलाकार बना रही है और मण्डलाकृति परागसंघात ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो वह सोने के छत्र की शोभा धारण कर रहा हो।'

किन्तु भारवि की यहां वर्णनप्रतिभा उनमें एक बहुत बड़े दोष का कारण भी बन जाती है और वह है लम्बे वर्णन का दोष। भारवि की रचना में ऐसे स्थलों का अभाव नहीं, जहां उनका अनावश्यक लम्बा वर्णन खटकने लगता है। अप्सराओं के आगमन तथा विहार का ही वर्णन उन्होंने चार सर्गों में किया है और इसी प्रकार युद्ध के वर्णन को भी प्रायः चार सर्गों तक खींचा है। वे किसी विषय का वर्णन आरम्भ करते हैं, तो उसे तब तक नहीं छोड़ते, जब तक अपने दिमाग को, अपनी कल्पना के खजाने को, अलंकार की विचित्रता को खाली नहीं कर देते। इससे महाकाव्य में शिथिलता आवश्यकता से अधिक आ जाती है। यूं तो महाकाव्य में कथा मन्थर गति से चलती ही है, तथापि भारवि की रचना में कथा और भी मन्द गति से चलती है। इससे पाठक ऊब-सा जाता है। जिस प्रकार का कथाप्रवाह कालिदास की कविताओं में मिलता है, वह भारवि में कहीं नहीं मिलता। विस्तृत वर्णन के चक्कर में भारवि एक और दोष कर बैठते हैं, वह है पुनरुक्ति का दोष। लगभग एक ही प्रकार के वर्णन कई स्थलों पर मिलते हैं। उदाहरण के लिए युद्ध के वर्णन में तथा अप्सराओं के वर्णन में ऐसे अनेक पद्य हैं, जिनके अर्थ में पर्याप्त समानता है और कवि घूम-फिर कर एक ही विषय पर पुनः आ जाता है। प्रथम सर्ग में ही पुनरावृत्ति के एक-दो उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥

इस पद्य का भाव उसी सर्ग के दूसरे पद्य में भी आता है—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता॥

और प्रायः एक ही प्रकार का भाव एक ही क्रम में आनेवाले इन तीन पद्यों में व्यक्त किया गया है—'दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः' 'तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः' तथा 'वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्।' अर्थ की पुनरावृत्ति के साथ-ही-साथ भारवि की कविता में कहीं-कहीं कथन में व्यतिक्रम-दोष भी देखने को मिल जाता है। इस प्रकार का व्यतिक्रम पात्रों के संवादों में मिल सकता है। जैसे प्रथम सर्ग में ही २९ वें श्लोक में युधिष्ठिर के मदस्रावयुक्त हाथी की तरह राजलक्ष्मी को त्याग देने का उल्लेख है, तथा ३१ वें पद्य में अपनी पत्नी की तरह अनुराग करनेवाली

राजलक्ष्मी के अपहरण करने का आरोप लगाया गया हैं, किन्तु इन्हीं दोनों पद्यों के बीच में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार ३०वें पद्य के बाद ३३वाँ पद्य रखा जाना अधिक उचित क्रम प्रतीत होता है, क्योंकि ३३वें में भी शत्रु के प्रति क्रोध का मार्ग अनुसरण करने का उपदेश दिया गया है; जबकि ३२वें पद्य का ३४वें के साथ मेल बैठता है, दोनों में वर्तमान दुर्दशा की ओर युधिष्ठिर का ध्यान दिलाकर द्रौपदी ने सवाल किया है कि क्या आपको अब भी क्रोध नहीं आता ? इसी प्रकार ३७वाँ पद्य ४१वें पद्य के साथ अधिक संगत दीखता है, और ४२वाँ ४४वें के साथ। इन दोनों में ही शान्ति के मार्ग को छोड़ने के लिए प्रेरित किया गया है तथा धैर्य एवं क्षमा को अनुपयुक्त ठहराया है।

वर्णन के विस्तार के कारण भारवि के काव्य में जो मन्थरता और गत्यवरोध आता है, उसे दूर करने के लिए भारवि ने कड़ी कुशलता से संवादों का सुन्दर विन्यास किया है। वस्तुतः संवादों की सहायता से ही कथा आगे बढ़ती है। लम्बे वर्णनों से ऊबने पर भी इन संवादों के कारण रोचकता बनी रहती है। संवादों में प्रत्येक पद्य एक नयी युक्ति तथा विचारदृष्टि को प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए प्रथम सर्ग में वनेचर के वचनों से उसकी सरलता, निश्छलता स्पष्ट होती है, तो द्रौपदी के वचन उसके मन की व्यथा एवं अपमान का बदला लेने की तीव्र छटपटाहट को व्यक्त करते हैं। द्रौपदी की उक्तियाँ इतनी तीखी और व्यंग्यपूर्ण है कि वे संवाद को अनोखी स्वाभाविकता प्रदान करती है। वह युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने के लिए उनका ध्यान बार-बार उनकी शोचनीय दुःखमय अवस्था की ओर आकृष्ट करती है और उलाहना भरे शब्दों में पूछती है—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥

वह युधिष्ठिर को प्रतीकार करने के लिए नीति का उपदेश देती है, उनके विजय की शुभकामना भी करती है। उसकी बोखलाहट तथा झुंझलाहट को भी कवि ने बड़े ही सुन्दर संवाद में अभिव्यक्त किया है—

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।

और इन सभी बातों से शान्त युधिष्ठिर विचलित होते नहीं दिखलाई पड़ते, तो वह कहती है—

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥

संवादों की सुन्दर रचना के कारण ही भारवि का चरित्रचित्रण सफल हुआ है। वे अपने पात्रों के स्वभाव तथा मनोभाव को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करते हैं। अपमान के प्रतीकार से मानसिक आधियों से सन्तप्त द्रौपदी, अपने पराक्रम का प्रयोग करने के लिये उतावले भीम, शान्ति और क्षमा के मूर्तिमान् रूप युधिष्ठिर, वीरता तथा मधुरता के धनी धनञ्जय, सभी प्रमुख पात्र सजीव हैं। वनेचर और किरातवेषधारी शिव का वर्णन भी बहुत सजीव है। महाभारत के क्रोधी तथा उद्धत भीम को भारवि ने एक कुशल नीतिज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया है। अर्जुन की वीरता को उभारने के लिए कवि ने शिव की सेना के ऊपर उनकी विजय का वर्णन किया है।

महाकाव्यों के इतिहास में भारवि अलंकृत काव्यशैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। काव्य की अलंकारों से तथा शाब्दिक चमत्कारों से विशेष रूप में सजावट 'किरातार्जुनीयम्' से ही आरम्भ होती है। उनकी उपमाओं में कालिदास की उपमाओं की तरह सरलता नहीं है। अपनी एक उपमा के कारण इन्हें 'आतपत्र भारवि' की उपाधि मिली है। इनकी उपमा में गुलाब के उड़ते पराग को लक्ष्मी के आतपत्र की उपमा दी गई है। यह उपमा प्रायः श्लेषानुप्राणित है। उदाहरण के लिए प्रथम सर्ग के इन पद्यों में—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतावनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥

तथा—गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥

लाटानुप्रास का उदाहरण प्रथम श्लोक में ही 'वने वनेचरः' है। वृत्त्यनुप्रास का उदाहरण 'द्विषतामशक्तीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा' में देखा जा सकता है। अर्थालङ्कारों में अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कारों का प्रायशः सौन्दर्य इनकी कविता में मिलता है। उदाहरणार्थ—

स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥
तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥

में अर्थान्तरन्यासालङ्कार है। निम्नलिखित पद्य में काव्यलिंग देखा जा सकता है—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥

और यह है भारवि के समासोक्ति अलंकार का उदाहरण—

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी॥

तथा निम्नलिखित पद्य सहोक्ति का सुन्दर उदाहरण है—

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥

इन अलंकारों के अलावा भारवि ने रूपक, उत्प्रेक्षा, निदर्शना तथा यमक के भी सुन्दर प्रयोग किये हैं।

किन्तु भारवि का अलंकार प्रेम ही उनका एक दोष बन जाता है। अनावश्यक अलंकारप्रियता का दोष काफी खटकनेवाला हो गया है। उन्होंने अपने काव्य के एक समूचे सर्ग—पन्द्रहवें सर्ग को सर्वतोभद्र, यमक, विलोम आदि अनेक चित्रालंकारों से जी भरकर सजाया है। यह सर्ग सबसे क्लिष्ट सर्ग माना जाता है। पाँचवें सर्ग में भी यमकालंकार की शृङ्खला गूँथने में वे उलझे हुए हैं। विशेषतः पन्द्रहवें सर्ग में तो वे अलंकारों के दीवाने हो गये हैं। इनके पद्य में तो केवल एक ही व्यंजन 'न' का प्रयोग देखिये—

ननो ननुन्नो नुन्नेनो नाना नानानना ननु।
नुन्नो नुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥

'नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जानेवाला पुरुष, पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है, जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे, तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल पुरुष को मार डालनेवाला भी अपराधी नहीं है।

इसी प्रकार का एक अन्य पद्य है—

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
लालो लीलां ललो लोला शशीशशिशुशीः शशन्॥

यह शाब्दी-क्रीड़ा भारवि का एक ऐसा दोष है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रो० कीथ ने तो इसे अलेक्जेण्डरकालीन कवियों के काव्य जैसा नितान्त मूर्खतापूर्ण कहा है।

भारवि के अर्थान्तरन्यास के प्रति पक्षपात ने उनकी कविता में एक उल्लेखनीय विशेषता उत्पन्न की है और वह है उनकी हृदयस्पर्शी सूक्तियाँ, जो इस महाकाव्य में पग पग पर मिलती हैं। ये सूक्तियाँ उनके काव्य को रोचक बनाने में बहुत योगदान देती हैं। निःसन्देह भारवि एक कुशल नीतिज्ञ थे, तभी तो इन्होंने व्यावहारिक ज्ञान की अद्भुत प्रौढ़ता प्रदर्शित की है। प्रथम सर्ग में ही लगभग बारह सूक्तियाँ हैं। यथा—

'न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः', 'समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः'। 'अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता', 'विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः', 'सहसा विदधीत न क्रियाम्', 'संवृणोति खलु दोषमज्ञता' आदि।

भाषा तथा शैली की दृष्टि से भारवि की कविता अपनी सर्वोत्तम अवस्था में प्रसादगुणयुक्त है। उसमें कालिदास की तरह का प्रसादगुण नहीं मिलता, किन्तु माघ की तरह विकट समासान्त पदावली का भी अभाव है। जहाँ इन्होंने छोटे समासों का प्रयोग किया है, वहाँ रचना में सरलता और सरसता प्रस्फुटित हुई है। जैसे प्रथम सर्ग के इस पद्य में—

महौजसो मानधनाः धनार्चिता धनुर्भृत संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥

भारवि की रीति गौड़ी नहीं है, वह वैदर्भी रीति ही है, किन्तु इनकी वैदर्भी रीति कालिदास की वैदर्भी रीति से भिन्न है। उनके पाण्डित्यप्रदर्शन ने उनकी कविता के भावपक्ष को दुर्बल बना दिया है। व्याकरण-ज्ञान का प्रदर्शन करने का लोभसंवरण वे नहीं कर सके हैं। उन्होंने पाणिनि के अनेक सूत्रों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह प्रवृत्ति आगे के कवियों ने खूब अपनायी है, जैसे माघ, श्रीहर्ष तथा भट्टि ने। इस प्रवृत्ति के कारण भाषा की क्लिष्टता का बोध भी भारवि भी कविता में स्थान-स्थान पर पाया जाता है। कुछ विशेष प्रकार के शब्दों के प्रति भी इनका पक्षपात देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए 'तन' धातु का बहुशः प्रयोग भारवि ने किया है। प्रथम सर्ग में ही—'तनोति

शुभ्रं गुणसम्पदा यशः', 'वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्', 'वितन्वति क्षेमम्' प्रयोग आये हैं। अतीत की घटना का वर्णन करने के लिए भारवि 'परोक्षभूते लिट्' का प्रयोग करते हैं तथा अपरोक्ष भूत के लिए लङ् तथा लुङ् का। व्याकरण की त्रुटियाँ भारवि में कम हैं। १७।६२ में उनके 'आजघ्ने' के आत्मनेपदी प्रयोग को व्याकरणसम्मत नहीं माना जा सकता। भारवि ने अनेक स्वल्पप्रचलित शब्दरूपों का प्रयोग किया है। जैसे 'स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः' में दर्शयते का प्रयोग मल्लिनाथ की टीका के अनुसार भी विवादास्पद है। शस् धातु का भी द्विकर्मक प्रयोग इन्होंने किया है। 'प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः' में 'ख्या' धातु का द्विकर्मक प्रयोग है। इसी प्रकार 'स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी' में दुह् धातु का कर्मकर्तरि प्रयोग है। काकु वक्रोक्ति का तथा निषेधद्वय का प्रयोग भी भारवि ने स्थान-स्थान पर किया है। निषेधद्वय का उदाहरण है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।

भारवि विविध छन्दों के प्रयोग में कुशल हैं। उनके वंशस्थ छन्द की प्रशंसा तो क्षेमेन्द्र ने भी की है।

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

भारवि ने वंशस्थ के अतिरिक्त उपजाति, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, स्वागता, मालिनी, पुष्पिताग्रा आदि वृत्तों का भी प्रयोग किया है।

भारवि की कविता में गीतिमय माधुर्य की अपेक्षा वर्णनात्मक एवं तर्कात्मक ओज का ही प्राधान्य है। सुश्लिष्टपदविन्यास के आचार्य कालिदास के समान प्रसादमयी हृदयावर्जक पदावली का अस्तित्व इनके महाकाव्य में तो सचमुच नहीं है, किन्तु अर्थगौरवमय पदों का विन्यास यहाँ पूरी तरह मिलता है। 'भारवि ने जितना लिखा है, प्रौढ़ता, अनुभूति एवं भावुकता के साथ लिखा है। संस्कृत काव्य की एक नवीन शैली विचित्रमार्ग की सृष्टि करने के लिए भारवि प्रबन्धकाव्यों के विकास में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।'

जैसा कि डा० डे ने लिखा है—'भारवि की कला प्रायः अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति-सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। शैली की दुष्प्राप्य कान्ति भारवि में सर्वथा नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा,

किन्तु भारवि उसकी व्यंजना अधिक नहीं कराते। भारवि का अर्थगौरव जिसके लिए विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है, उनकी गम्भीर अभिव्यंजना शैली का फल है, किन्तु यह अर्थगौरव, एक साथ भारवि की शक्ति तथा दुर्बलता (भावपक्ष की दुर्बलता) दोनों को व्यक्त करता है। भारवि की अभिव्यंजना शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है, उसमें शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है, किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय को उठाने की उच्चतम क्षमता रखती है।

श्री आर० सी० दत्त ने 'सिविलिजेशन आफ दि एंशियण्ट इण्डिया' में भारवि की कविता के विषय में लिखा है—'रचनात्मक कल्पना की समृद्धि में, वास्तविक कोमलता एवं भावों में और यहाँ तक कि छन्द के लय की मधुरता में कालिदास अतुलनीय रूप में महत्तर कवि हैं किन्तु फिर भी भारवि विचार एवं भाषा के ओज का, अभिव्यंजना में एक स्फूर्तिमय तथा उदात्त व्यञ्जकता पर गर्व करता है, जिसकी समानता कालिदास शायद ही कभी कर पाते हैं।'

निःसन्देह विचारों एवं भाषा की स्फूर्ति एवं उच्चकोटि की अभिव्यक्ति में भारवि को अनूठी सफलता मिली है, भले ही कल्पना का वैभव, कोमलता, भावुकता एवं गीति-काव्य की मधुरता में महाकवि कालिदास भारवि से बहुत आगे हैं। अपने बाद के कलावादी कवियों माघ या श्रीहर्ष की तुलना में भारवि अनेक दृष्टियों से अधिक प्रशंसा के पात्र हैं। पण्डितों में यह उक्ति है कि भारवि से माघ बढ़कर हैं तथा माघ ने भारवि के प्रभाव को कम करने के लिए अपने काव्य की रचना की थी—

> तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
> उदिते च पुनर्माघे भारवेर्भा रवेरिव॥

किन्तु माघ के काव्य में अस्वाभाविकता, शुष्कता, कृत्रिमता और अधिक बढ़ गई है। उन्होंने भारवि का ही अनुकरण किया है। कालिदास के बाद भारवि दूसरे स्थान के उचित अधिकारी हैं, इसमें सन्देह नहीं।

व्याख्याता, संस्कृत एवं पालि विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

उमेशचन्द्र पाण्डेय

॥ श्रीः ॥

किरातार्जुनीयम्

'प्रबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ १ ॥

अन्वयः—कुरूणाम् अधिपस्य श्रियः पालनीं, प्रजासु वृत्तिं वेदितुं यम् अयुङ्क्त, वर्णिलिङ्गी सः वनेचरः विदितः (सन्) द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ ।

भावार्थ—द्वैतवन में निवास करते हुए युधिष्ठिर ने जिस वनेचर को दुर्योधन की प्रजानीति का भेद जानने के लिये भेजा था, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर वापस आ गया ।

पदव्याख्या—श्रियः=सम्पत्ति का, राजलक्ष्मी का, आरम्भ में श्री शब्द का प्रयोग मंगल के लिये भी किया गया है । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' अमरकोष । कुरूणाम् अधिपस्य=कुरुजनपद के स्वामी (दुर्योधन) की । देशवाचक शब्द बहुवचन में होता है । कुरूणां निवासो जनपदः, तेषाम् । कुरु+अण् प्रत्यय 'जनपदे लुप्' सूत्र से 'अण्' का लोप होगा । 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' सूत्र से कुरु शब्द में बहुवचन होगा । 'शेषे षष्ठी' से 'षष्ठी' हुई । अधिपः–अधि पातीति अधिपः, तस्य । अधि+पा+कर्तरि 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से क प्रत्यय । पालनीम्=पालन करनेवाली, प्रतिष्ठापित करनेवाली, (वृत्तम् का विशेषण) पाल्यते अनया इति पालनी, ताम् । पाल्+ल्युट् करणे+ङीप् स्त्रीप्रत्यय । 'करणाधिकरणयोश्च' से करण के अर्थ में ल्युट् प्रत्यय हुआ । प्रजासु वृत्तिम्=प्रजाओं पर व्यवहार, प्रजा के प्रति आचरण । प्रकर्षेण जायन्ते इति प्रजाः, तासु । प्र+जन+ड प्रत्यय+टाप् स्त्रीप्रत्यय । वृत्तिम्=व्यवहार, वर्ततेऽनया वृत्तिः, वृत्+क्तिन् प्रत्यय, करण अर्थ में । 'प्रजासु वृत्तिम्' करके 'प्रजा के प्रति उत्तम व्यवहार' अर्थ भी हो सकता है । यम् अयुङ्क्त=जिसे

नियुक्त किया गया था, युज्+लङ् लकार। वेदितुम्=जानने के लिए, विद्+ि तुमुन्। 'क्रियार्थायां क्रियायां तुमुन्'। वर्णिलिङ्गी=ब्रह्मचारी वेशधारी। वर्णः ब्रह्मचर्यम् अस्यास्तीति वर्णी, वर्णिनः लिङ्गं वर्णिलिङ्गम् (षष्ठी तत्पुरुष) वर्णिलिङ्गम् अस्य अस्ति इति वर्णिलिङ्गी, जिसका चिह्न या वेश ब्रह्मचारी का हो। वर्णी=वर्ण+इनि। लिङ्गी=लिङ्ग+इनि। 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' से वर्णी में इनि। विदितः=ज्ञान सम्पन्न होकर, वृत्तान्त को जानकर। विदित वेदनम् अस्ति अस्य, विद्+क्त भावे। विद्+अच् मत्वर्थीय, 'अर्श आदि- भ्योऽच्' सूत्र से। अथवा विद्+क्त कर्तरि, विदितवान् अथवा विद्+क्विप्=अथ विद्; विद्+इतच्=विदितः। समाययौ=लौट आया, सम्+आ+या+लिट्प लकार, प्र० पु० एकवचन। युधिष्ठिरम्=युधिष्ठिर के पास। युधि स्थिरः युधिष्ठिरः, तम् (सप्तमी तत्पुरुष)। द्वैतवने=द्वैतवन नाम के वन में। द्वौप शोकमोहौ इतौ अस्मात् इति द्वीतम्, द्वीतम् एव द्वैतम्। द्वीतम्=द्वि+इ+क्त। द्वैतम्=द्वीत+अण्प्रत्यय स्वार्थे। द्वैतं च तद्वनं द्वैतवनम् (कर्मधारय समास)। यह वन सरस्वती नदी के किनारे मरुधन्वन् नाम के देश में था। वनेचरः= बनवासी, वने चरतीति वनेचरः, वने+चर्+ट प्रत्यय कर्तरि, 'चरेष्टः' सूत्र से। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र से सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं हुआ (अलुक् तत्पुरुष समास)।

संस्कृतव्याख्या—दुर्योधनेन द्यूतक्रीडया पराजितो युधिष्ठिरः अनुजैः द्रौपद्या च सह द्वैतवने वसन्नास्ते। तेनैको वनेचरः दुर्योधनस्य राज्यशासनपद्धतिं ज्ञातुं प्रेषितः ब्रह्मचारिवेषं धृत्वा तेन सर्वं ज्ञातम्, तदनन्तरं सः द्वैतवने समागतः। कुरूणां अधिपस्य=कुरुसंज्ञकनृपतिनिवासख्यातदेशानां राज्ञः दुर्योधनस्य, कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः, तेषां स्वामिनः। श्रियः पालनीम्=राज्य- सम्पदः प्रतिष्ठापिकाम्, पाल्यतेऽनयेति पालनी, ताम्। सकलनियमसेविनीम्, 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः। प्रजासु वृत्तिम्=जनेषु व्यवहारम्, वार्ताम् वा, 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः। वेदितुम्=विज्ञा- तुम्, विद्+तुमुन्, यम् अयुङ्क्त=यं वनेचरं नियुक्तवान्। युज्+लङ्। स वर्णिलिङ्गी=ब्रह्मचारिरूपधारी, वर्णः अस्यास्तीति वर्णी, तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी। विदितः=विदितसकलवृत्तान्तः, वनेचरः= आरण्यकः, द्वैतवने=द्वैतवननाम्नि विदिते वने। युधिष्ठिरं समाययौ=

धिष्ठिरं समागतः, द्रष्टुमागतः । 'वनेचरो वनप्रिय इति स्मृतः' वंशस्थवृत्तम् । लक्षणम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' ।

भावार्थ—कुरुदेश के राजा सुयोधन की राजलक्ष्मी को प्रतिष्ठापित करने वाले प्रजा के प्रति व्यवहार को जानने के लिये (युधिष्ठिर ने) जिसे नियुक्त किया था, वह ब्रह्मचारी वेषधारी वनवासी (किरात) सभी वृत्तान्त जानता आ द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास आया ।

टिप्पणी—महाकाव्य के लक्षण का पालन करते हुए ही प्रथम पद्य में ही कथावस्तु का निर्देश किया गया है । वनवासी किरात का उल्लेख करके आगे उपस्थित होनेवाले किरात-वेषधारी शिव का भी संकेत किया गया है । आरम्भ का 'श्रियः' शब्द मंगलवाची भी है । (२) 'वने वनेचरः' में 'वने' स्वर-व्यञ्जन-समूह की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास अलंकार है, 'वर्णसाम्यमनुप्रासः, छेकवृत्तिगतो द्विधा, सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः' । (३) इस सर्ग में वंशस्थ छन्द है, जिसका लक्षण है 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' । अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण, रगण होते हैं, जगण में मध्य गुरु, तगण में अन्त लघु और रगण में मध्य लघु होता है ।

जगण	तगण	जगण	रगण
ISI	SSI	ISI	SIS
श्रियः कु	रूणाम	धिपस्य	पालनीं ॥ १ ॥

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥ २ ॥

अन्वयः—कृतप्रणामस्य, सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः, तस्य मनः न विव्यथे । हि हितैषिणः मृषा प्रियं प्रवक्तुं न इच्छन्ति ।

भावार्थ—इस पद्य में यह बताया गया है कि युधिष्ठिर से शत्रु द्वारा पृथ्वी की विजय का समाचार बतानेवाले उस वनेचर का मन दुःखी नहीं हुआ, क्योंकि हित चाहनेवाले झूठी प्रिय बात नहीं कहते ।

पदव्याख्या—कृतप्रणामस्य=जिसके द्वारा प्रणाम किया गया है, अर्थात् जिसने प्रणाम किया है, कृतः प्रणामः येन सः कृतप्रणामः, तस्य (बहुव्रीहि) । कृत=कृ+क्त । प्रणाम=प्र+नम्+घञ् प्रत्यय । यह तीसरे चरण के 'तस्य' का विशेषण है । महीभुजे=महीभुज् शब्द का चतुर्थी एकवचन, राजा से । महीं भुनक्तीति महीभुक्, तस्मै । मही+क्विप् प्रत्यय । 'क्रियार्थोपपदस्य च

कर्मणि स्थानिनः' से चतुर्थी । जिताम्=जीती गई, अर्थात् नीति से जीती। ('महीम्' का विशेषण) जि+क्त+टाप् । सपत्नेन=शत्रु के द्वारा । 'रि वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' अमरकोश । समाने वस्तुनि पतति इ सपत्नः । स+पत्+न अथवा 'सपत्नीव सपत्नः' सपत्नी+अ । निवेदयिष्यतः निवेदन करनेवाले उसका (निवेदयिष्यत् का षष्ठी एकवचन, 'तस्य' का विशे षण), नि+विद्+णिच्+भविष्यत्कालीन शतृ प्रत्यय । न विव्यथे=दुः नहीं हुआ । व्यथ् धातु लिट् लकार । तस्य मनः=उस वनेचर का मन । मु उपवाक्य है, तस्य मनः न विव्यथे=उसका मन व्यथित नहीं हुआ । हि=क्यों (अव्यय शब्द है), प्रियं प्रवक्तुम्=प्रिय बोलने के लिए, प्र+वच्+तुमु इच्छन्ति=चाहते हैं, इच्छा करते हैं । इष्+लट्, बहुवचन । मृषा=मिथ्या भूत, झूठ । अव्यय शब्द है । हितैषिणः=हित चाहनेवाले, हित+इष्+णि प्रत्यय, हितम् इच्छन्ति इति । 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' से णिनि ।

संस्कृतव्याख्या—कृतप्रणामस्य=कृतनमस्कारस्य । सपत्नेन=रिपुणा दुर्योधनेन । जिताम्=नयेन स्वायत्तीकृताम् । महीम्=पृथ्वीम् । निवेदयिष्यतः ज्ञापयिष्यतः । तस्य=वनेचरस्य, मनः=हृदयम् । न विव्यथे=न व्यथितं न विचलितम् । हि=यस्मात् कारणात्, हितैषिणः=स्वामिकल्याणेच्छवः जनाः । मृषा=मिथ्याभूतम्, प्रियम्=श्रवणसुखदं वचनम्, प्रवक्तुम्=निवेदयितुम् न इच्छन्ति=न अभिलषन्ति । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' तथा 'मृषा मिथ्या तु वितथे'—अमरकोशः ।

प्रथमं तु वनेचरः प्रणाममकरोत् । परन्तु कथमहं शत्रु-समृद्धि निवेदया मीति विचार्य तस्य मनः न विचलितम् । यतः हितेच्छवः कदापि मिथ्या प्रियवचनं न वक्तुमिच्छन्ति । वंशस्थवृत्तम् ।

भावार्थ—(राजा युधिष्ठिर को) प्रणाम करने पर, शत्रु द्वारा जी गयी पृथ्वी का वृत्तान्त राजा से कहते हुए उस (वनेचर दूत) का मन दुः नहीं हुआ, क्योंकि हित चाहनेवाले झूठ प्रियवचन बोलने की इच्छा न करते हैं ।

टिप्पणी—(१) महीं महीभुजे में 'मही' पद की आवृत्ति हुई है, अतः पदानुप्रास या लाटानुप्रास है । (२) काव्यलिंग नाम का अलंकार भी, प्रथम कथन को दूसरे कथन के द्वारा कारणनिर्देश के साथ समर्थन किया गया है ।

(३) 'न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः' एक सूक्ति या नीति कथन है। भारवि की कविता में ऐसी सूक्तियां पद-पद पर मिलती हैं, इसी सर्ग में १५ सूक्तियाँ हैं। इसी प्रकार की सूक्ति श्लोक ४ में 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' है। (४) यह पद्य इस तथ्य का उदाहरण है कि भारवि किस प्रकार एक पद्य के भीतर बहुत-सी बात कहने का प्रयत्न करते हैं; यद्यपि इस प्रयत्न में भाषा की सरलता समाप्त हो जाती है। (५) इसमें दूत के गुण सत्यभाषण का निर्देश है। दूत के गुण हैं, 'अमोढयममान्द्यममृषाभाषित्वमव्यूहकत्वं चेति [दू]तगुणाः' ॥ २ ॥

> द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
> स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥ ३ ॥

अन्वयः—द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छ[तः] भूभृतः अनुज्ञाम् अधिगम्य सः [र]हसि सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे।

भावार्थ—इस पद्य में यह बताया गया है कि किस प्रकार राजा की आज्ञा [पा]कर वनेचर ने शब्द-सौष्ठव तथा अर्थ-गाम्भीर्य से युक्त स्पष्ट अर्थ वाला वचन [बो]लना आरम्भ किया।

पदव्याख्या—द्विषाम् =शत्रुओं के। द्विषन्ति इति द्विषः, तेषाम्। द्वेष [क]रनेवालों का, द्विष्+क्विप् प्रत्यय; कर्तरि। विघाताय=विनाश के लिये। [वि]घात का चतुर्थी। वि+हन्+घञ् प्रत्यय, भावे। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' [नि]यम से चतुर्थी विभक्ति। विधातुम्=करने के लिए, प्रयत्न करने के लिए। [वि]+धा–तुमुन् भावे। इच्छतः=इच्छा करनेवाले का। इष्+शतृ=इच्छत् [ष]ष्ठी (भूभृतः का विशेषण)। रहसि=एकान्त में। अनुज्ञाम्=आज्ञा [को], अनु+ज्ञा+भाववाचक अङ् प्रत्यय। अधिगम्य=प्राप्त करके। अधि+[ग]म्+क्त्वा=ल्यप्। भूभृतः=राजा का। षष्ठी एकवचन। भुवं बिभर्ति [इ]ति भूभृत्। पृथ्वी का पालन करनेवाला। भू+भृ=क्विप् कर्तरि। [सौ]ष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्—शब्द के सौष्ठव और अर्थ के वैभव से विशेष रूप [से] समन्वित। सुष्ठु इत्यस्य भावः सौष्ठवम्। सुष्ठु अव्यय पद से अण् प्रत्यय। [उ]दारस्य भावः औदार्यम्, उदार+ष्यञ् प्रत्यय। सौष्ठवं च औदार्यं च [सौ]ष्ठवौदार्ये (द्वन्द्व समास)। सौष्ठवौदार्ये एव विशेषस्तेन शालते—जिसमें [सौ]ष्ठव और औदार्य विशेष रूप से परिलक्षित हैं। विशेषः=वि+शिष्+[घ]ञ्। सौष्ठवौदार्यविशेषेण शालते इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी, ताम्। शाल्+णिनि+ङीप् स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय (वाचम् का विशेषण)। विनिश्चितार्थाम्=

स्पष्ट अर्थों वाली, जिसका अर्थ विशेष रूप से निश्चित हो। विशेषेण निश्चि
विनिश्चितः, अर्थः यस्याः सा, ताम् (वाचम् का विशेषण)। वाचम् आद
वचन ग्रहण किया, बोलना आरम्भ किया, आ+दा+लिट् लकार, प्र०
एकवचन।

संस्कृतव्याख्या—द्विषां=शत्रूणाम् 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृद
द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः। विघाताय=विनाशाय, वि
तुम् इच्छतः=उद्योगं कर्तुमभिलषतः। भूभृतः=राज्ञः युधिष्ठिरस्य, 'भू
भूमिधरे नृपे' इत्यमरः। अनुज्ञाम्=आज्ञाम्, अधिगम्य=प्राप्य, सः=वनेच
रहसि=एकान्ते। सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्=शब्दसौष्ठवार्थगाम्भीर्यगुणा
विशेषेण समन्विताम्। विनिश्चितार्थाम्=स्पष्टार्थां प्रमाणेन निर्णीताम्,
=वक्ष्यमाणरूपाम्, वाचम्=वाणीम्, आददे=स्वीकृतवान्, उवाच।

भाषार्थ—शत्रुओं के विनाश के लिए उद्योग करने के इच्छुक रा
(युधिष्ठिर) का आदेश पाकर उसने एकान्त में शब्दों के सौष्ठव तथा
की गम्भीरता से विशेष रूप से विभूषित एवं स्पष्ट अर्थोंवाला इस प्रकार
वचन बोलना आरम्भ किया।

टिप्पणी—(१) इसमें वचन के तीन गुणों का निर्देश किया गया
शब्दसौष्ठव—सुन्दर उपयुक्त शब्दों का प्रयोग, अर्थवत्ता—अर्थ-स्पष्टता
विनिश्चितार्थता—प्रमाण से युक्त निश्चित अर्थवाली (२) उत्तरार्द्ध में व
आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है। (३) कवि ने काव्यीय रचना
भाषा-शैली के गुणों का भी संकेत इस पद्य में किया है॥ ३॥

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥ ४॥

अन्वयः—नृप! क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न व
नीयाः। अतः असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि। हितं मनोहारि च वचः दुर्लभ

भावार्थ—इसमें दूत युधिष्ठिर से कहता है कि मैं आपके हित को ध्यान
रखकर यथातथ्य बात कहता हूँ, इसमें कुछ अप्रिय हो तो क्षमा करेंगे, क्यों
हितकारी और साथ साथ मनोहर वचन दुर्लभ होता है।

पदव्याख्या—क्रियासु युक्तैः=कार्यों में लगाये गये द्वारा (अनुजीवि
का विशेषण), क्रिया का यहाँ अर्थ है कर्तव्य, सौंपा गया कार्य। क्रि
में सप्तमी, बहुवचन। युक्तैः=युज्+क्त प्रत्यय, तृतीया बहुवच

नृप—हे नृप !—हे राजन् ! चारचक्षुषः—दूत ही जिनके नेत्र हैं, दूतों के माध्यम से देखनेवाले (प्रभवः का विशेषण)—चरन्तीति चराः, एव चाराः, चाराः एव चक्षूंषि येषां ते चारचक्षुषः (बहुव्रीहि समास) चरः=चर्+अच् प्रत्यय कर्तरि। चारः=चर+अण् स्वार्थे। न वञ्चनीयाः—धोखा देने योग्य नहीं हैं, ठगे नहीं जाने चाहिए। ('प्रभवः' के लिए)। वञ्च+णिच्+अनीयर् प्रत्यय कर्मणि। प्रभवः=स्वामी लोग, राजा गण, प्रभु का प्रथमा बहुवचन। प्रभवन्तीति प्रभवः, प्र+भु+डु प्रत्यय कर्तरि। अतः—एतत् से पञ्चमी तस्, इस कारण। अर्हसि=योग्य है, समर्थ हैं। अर्ह्+लट् लकार, मध्यमपुरुष। क्षन्तुम्—क्षमा करने के लिए। क्षन्तुम् अर्हसि=क्षमा करें। क्षम्+तुमुन्। असाधु साधु वा+अप्रिय हो या प्रिय, उचित या अनुचित। हितं=हितकारी कल्याणकारी (वचः का विशेषण)। मनोहारि—मनोहर, प्रिय, मनोरम (वचः का विशेषण), मनो हर्तुं शीलमस्येति, मनस्+हृ+णिनि (नपुंसकलिंग, एकवचन का रूप) दुर्लभम्=दुर्लभ, कठिनाई से प्राप्त होता है, दुःखेन लभ्यते इति, (उपपद तत्पुरुष)। दुर्+लभ्+खल् प्रत्यय। हितं मनोहारि च वचः दुर्लभम्=हितकारी और मन को प्रिय लगनेवाला वचन दुर्लभ होता है।

संस्कृतव्याख्या—हे नृप !—हे राजन् !, क्रियासु युक्तैः=कार्येषु नियुक्तैः, अनुजीविभिः—मादृशैः सेवकैः, अनुचरैः वा, चारचक्षुषः=गूढचरनयनाः। चरन्तीति चराः, चरा एव चाराः, चारा एव चक्षूंषि येषां ते चारचक्षुषः। प्रभवः—स्वामिनः, 'अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः। न वञ्चनीयाः=न प्रतारणीयाः, सर्वथा सत्यं यथातथ्यमेव कथयिष्यामीति भावः। अतः=अस्मात् कारणात्, असाधु=अप्रियम्, साधु=प्रियं वा भवेत्, तत् त्वं क्षन्तुम् अर्हसि=सोढुं योग्योऽसि, क्षम्यताम् इति भावः। यतः हितम्=कल्याणकरम्, मनोहारि=मनोहरं च, प्रियं च, वचः—वचनम्; दुर्लभम्=दुष्प्रयोज्यम् भवति। हितकरं मनोहरं च वचनं दुष्प्रयोज्यं भवति।

भावार्थ—हे राजन् ! कार्यों में नियुक्त सेवकों को चाहिए कि वे स्वामियों को जिनके नेत्र दूत ही हैं (अर्थात् जो दूतों द्वारा ही देखते हैं) धोखा न दें। इस कारण (मेरे कथन में जो कुछ) अप्रिय या प्रिय वाक्य हो, उसे आप क्षमा करेंगे। हितकारी तथा मन को प्रिय लगनेवाले वचन दुर्लभ होते हैं।

टिप्पणी—(१) 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' एक सूक्ति है। लगभग इसी अर्थ में दूसरी सूक्ति द्वितीय श्लोक में है। 'न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः' तथा 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।'—रामायण (अरण्यकाण्ड ३७।२)। (२) काव्यलिंग अलंकार है। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' द्वारा कारण बताते हुए पूर्व कथन का समर्थन किया गया है ॥ ४ ॥

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किम्प्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥ ५ ॥

अन्वयः—यः अधिपं साधु न शास्ति सः किंसखा। यः हितात् न संशृणुते सः किम्प्रभुः। नृपेषु अमात्येषु च अनुकूलेषु (सत्सु), सर्वसम्पदः सदा रतिं कुर्वते।

भावार्थ—इसमें योग्य मंत्री तथा राजा के स्वभाव का निर्देश करके मंत्रियों एवं राजाओं के पारस्परिक सामञ्जस्य को राज्य की सतत समृद्धि का कारण बताया गया है।

पदव्याख्या—स किं सखा=वह कुत्सित मित्र है, निकृष्ट मित्र है। कुत्सितः सखा, किंसखा, (कर्मधारय समास)। 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' से 'टच्' प्रत्यय नहीं हुआ। 'किमः क्षेपे' सूत्र से। यः अधिपं साधु न शास्ति=जो राजा को उचित उपदेश नहीं देता, हितकारी परामर्श नहीं देता। अधिपम्=अधिपाति इति अधिपः, तम्। अधि+पा+क प्रत्यय कर्तरि। साधु+उचित हितकारी। शास्ति=शास्+लट्लकार, प्र० पु०, एकवचन। उपदेश देना। यः हितात् न संशृणुते=जो हितकारी मित्र से नहीं सुनता, हितकारी मित्र के उपदेश पर ध्यान नहीं देता। हितात्=धा+क्त, भावे हितम्। हितमस्ति अस्येति हितः, तस्मात् (हित+अच् प्रत्यय), 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से नियमपूर्वक सुनने के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई। संशृणुते=सम्+श्रु+लट् लकार, अकर्मक और सम् पूर्वक होने से आत्मनेपद। किम्प्रभुः=कुत्सितः प्रभुः, कुत्सित स्वामी, कर्मधारय समास। अनुकूलेषु=कूलम् अनुगताः अनुकूलाः, तेषु। अनुकूल होने पर (नृपेषु अमात्येषु का विशेषण)। (प्रादि तत्पुरुष) रतिं कुर्वते=अनुराग करती है। रतिम्=रम्+क्तिन् प्रत्यय, द्वितीया एकवचन। कुर्वते=कृ+लट् लकार ('सर्वसम्पदः' की क्रिया)। नृपेषु अमात्येषु च=राजाओं और मंत्रियों के (अनुकूल होने पर), 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' सूत्र से सप्तमी। अमात्य=अमा+त्य 'अमेहक्व-

तसिलेभ्य एव' वार्त्तिक के अनुसार। इहत्य, ततस्त्य, तत्रत्य की तरह। सर्व-सम्पदः=सभी सम्पत्तियाँ। सर्वाः सम्पदः सर्वसम्पदः (कर्मधारय)। सम्पदः=सम्+पद्+क्विप्।

संस्कृतव्याख्या—यः=सखा अमात्यादि। अधिपम्=स्वस्वामिनम्। 'अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः। साधु=हितम्, हितकरं, न शास्ति=न उपदिशति, स किंसखा=कुत्सितः सखा, अथवा किंसखा=किं हितकारकः मित्रम्? नासौ सखेत्यर्थः। 'किं पृच्छायां जुगुप्सने' इत्यमरः। हिताद्=हितोपदेशकात् अमात्यात्, यः न संश्रृणुते=उपदेशं न श्रृणोति, उपेक्षां करोति। स किम्प्रभुः=कुत्सितः प्रभुः अथवा किंप्रभुः=किंस्वामी; न प्रभुरित्यर्थः। हि=यस्मात् कारणात्, नृपेषु=स्वामिषु, अमात्येषु च=मन्त्रिषु च, अनुकूलेषु सत्सु=अविरुद्धेषु भवत्सु, परस्परानुरक्तेषु सत्सु, सर्वसम्पदः=सकलसम्पत्तयः, रतिं कुर्वते=अनुरागं कुर्वन्ति, कदापि न जहातीत्यर्थः। राज्यलक्ष्मीः नान्यतः गन्तुमुत्तिष्ठते।

भावार्थ—जो स्वामी को उचित हितकारी उपदेश नहीं देता, वह निकृष्ट मित्र होता है। जो (स्वामी) हित चाहनेवाले (मित्र) की बात को ध्यान देकर नहीं सुनता, वह निकृष्ट स्वामी होता है। क्योंकि राजाओं और मन्त्रियों के अनुकूल रहने पर सभी सम्पत्तियाँ सदैव अनुराग करती हैं (अर्थात् सदैव अक्षुण्ण बनी रहती हैं)।

टिप्पणी—(१) इसमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। 'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः'। (२) किंसखा को अलग करके स किं सखा=क्या वह सखा नहीं है, ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है और इसी प्रकार 'किं प्रभुः' को भी ॥ ५ ॥

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—निसर्गदुर्बोधं भूपतीनां चरितं क्व? अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व? यत् मया विद्विषां निगूढतत्त्वं नयवर्त्म अवेदि, (तत्) अयं तव अनुभावः।

भावार्थ—इस पद्य में वनेचर अपनी अहङ्काररहीनता का परिचय देते हुए कहता है कि राजाओं की राजनीति साधारण व्यक्ति द्वारा सरलता से समझी जाने योग्य नहीं होती।

पदव्याख्या—निसर्गदुर्बोधम्=स्वभाव से ही दुर्बोध, अपने स्वभाव के

कारण कठिनाई से समझा जाने योग्य ('चरितम्' का विशेषण)। निसर्गेण दुर्बोधं निसर्गदुर्बोधम्, (तृतीया तत्पुरुष)। निसर्ग = नि + सृज् + घञ्। दुर्बोध = दुर् + बुध् + खल्। अबोधविक्लवाः = अज्ञान से अभिभूत, अज्ञानी (जन्तवः का विशेषण), न बोधः अबोधः (नञ् तत्पुरुष), विगतः क्लवः एषां इति विक्लवाः, (बहुव्रीहि), अबोधेन विक्लवाः अबोधविक्लवाः; (तृतीया तत्पुरुष)। बुध् + घञ् = बोधः। क्व भूपतीनां चरितम् = राजाओं का चरित्र कहाँ ? भुवः पतिः भूपतिः, तेषाम्। पा + डति प्रत्यय कर्तरि = भूपतिः। चरितम् = चर + क्त भावे। क्व जन्तवः = जीव कहाँ ? मुझ जैसे मनुष्य कहाँ ?

निसर्गदुर्बोधं भूपतीनां चरितं क्व ? अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व ? स्वभाव से ही दुर्बोध राजाओं का चरित्र कहाँ और (मुझ जैसे) अज्ञानी मनुष्य कहाँ ? दो बार 'क्व' का प्रयोग दो बातों में अत्यन्त विषमता वा असंगति प्रकट करने के लिए होता है। जैसे—'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः' (रघुवंश १।२), 'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः' (कुमारसम्भव ५।४), 'क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते' (शाकुन्तल, अङ्क १।१०)। वनेचर के कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे जैसे अज्ञानी द्वारा दुर्योधन जैसे राजा की नीति समझना कठिन कार्य था। तवानुभावः अयम् = यह आपकी ही कृपा है, अनुगतः भावः अनुभावः, (प्रादितत्पुरुष)। अनु + भू + घञ्। अनुभावः = प्रताप, कृपा, महिमा। यद् मया अवेदि = जो मेरे द्वारा जान लिया गया, विद + लुङ् लकार, प्र० पु० एकवचन, कर्मवाच्य में। निगूढतत्त्वम् = जिसका तत्त्व अत्यन्त गुप्त है। निगूढं तत्त्वं यस्य (बहुव्रीहि), नि + गुह + क्त कर्मणि, तस्य भावः तत्त्वम्, तत् + त्वं (नयवर्त्म का विशेषण)। विद्विषां नयवर्त्म–शत्रुओं की नीति का मार्ग। नीयतेऽनेन इति नयः, नी + अच्। वर्ततेऽनेन अस्मिन् वा, वर्त्म = वृत् + मनिन्। नयस्य वर्त्म। वि + द्विष् + क्विप् विद्विष्, तेषाम्।

संस्कृतव्याख्या—निसर्गदुर्बोधम् = स्वभावदुर्ज्ञेयम्, न साधारणजनानां सुबोधमित्यर्थः। निसर्गात् दुर्बोधम्, 'स्वरूपं च स्वभावस्य निसर्गश्चाथ वेपथुः' इत्यमरः। भूपतीनाम् = राज्ञाम्, महीपतीनाम्, 'पार्थिवो भूपतिर्भूपो महीभुक् क्ष्मापतिर्नृपः' इत्यमरः। चरितम् = राज्यशासनरूपं कृत्यम्, क्व=कुत्र वर्तते ? अबोधविक्लवाः = दुर्बोधजडाः, अज्ञानोपहताः मादृशाः जन्तवः = जनाः, क्व = कुत्र वर्तन्ते ? उभयोर्महदन्तरमस्ति राज्ञश्चरितं मादृशैः, अज्ञानापहतैः जनैः न

ज्ञायते । तथापि मया=वनेचरेण, विद्विषाम्=शत्रूणाम्, दुर्योधनादीनाम्, निगूढतत्त्वम्=अतिगुप्तसारम्, नयवर्त्म=राजनीतिमार्गः, यत् अवेदि=ज्ञातम्, तत्=अयम्, तव=युधिष्ठिरस्यैव, अनुभावः=प्रभावः, महिमा वा । अनुगतो भावः अनुभावः । 'अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः ।

भाषार्थ—स्वभाव से ही दुर्बोध राजाओं का व्यवहार कहाँ ? और (मेरे जैसे) अज्ञानी व्यक्ति कहाँ ? मैंने शत्रुओं के अत्यन्त गुप्त स्वरूपवाले राजनीति के मार्ग का जो ज्ञान प्राप्त किया, वह आपका ही प्रभाव है ।

टिप्पणी—(१) दो बार 'क्व' का प्रयोग करके दोनों बातों में अत्यन्त विषमता प्रदर्शित की गयी है । विषमालंकार है । अन्य उदाहरण—'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः'–रघुवंश । (२) इस कथन से कि आपके प्रभाव से मैं जान सका, वनेचर की निरभिमानता सूचित होती है ॥ ६ ॥

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः ।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥ ७ ॥

अन्वयः—सुयोधनः नृपासनस्थः अपि, वनाधिवासिनः भवतः पराभवं विशङ्कमानः, दुरोदरच्छद्मजितां जगतीं नयेन जेतुं समीहते ।

भावार्थ—इस पद्य में वनेचर कहता है कि सिंहासन पर आसीन होकर भी दुर्योधन पराजय की शंका करता हुआ उत्तम प्रजानीति द्वारा पृथ्वी के राज्य को अपने वश में बनाये रखने का प्रयत्न कर रहा है ।

पदव्याख्या—शङ्कमानः—शंका करता हुआ, सम्भावना करता हुआ, वि+शङ्क+शानच् (सुयोधनः का विशेषण)। भवतः=आप से । भवत् का पञ्चमी । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' सूत्र से पञ्चमी हुई । पराभवम्=पराजय, परा+भू+अप् भावार्थक प्रत्यय । भवतः पराभवं विशङ्कमानः=आप से पराजय की शंका करता हुआ । नृपासनस्थः अपि=राजसिंहासन पर बैठा हुआ भी, राजा होते हुए भी (सुयोधनः के लिए) । नृपस्य आसनं नृपासनम् (षष्ठी तत्पुरुष), तस्मिन् तिष्ठति इति नृपासनस्थः (उपपद तत्पुरुष) । नृपासन+स्था+क प्रत्यय, नृप=नॄन् पातीति नृपः=नृ+पा+क प्रत्यय । आस्यतेऽस्मिन्निति आसनम्, आस्+ल्युट् प्रत्यय । वनाधिवासिनः=वन में निवास करनेवाले से (पञ्चमी एकवचन का रूप, प्रथम चरण के 'भवतः' का विशेषण) । वनमधिवसति इति वनाधिवासी, तस्मात् वनाधिवासिनः (उपपद तत्पुरुष समास)। अधि+वस्+णिनि प्रत्यय । दुरोदरच्छद्मजिताम्=जुए के छल से जीती गयी

(जगतीम् का विशेषण)। दुरोदर=जुआ, द्यूत 'दुरोदरे द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' अमरकोश। दुष्टमुदरस्येति दुरोदरम्। दुरोदरमेव छद्म दुरोदरच्छद्म (कर्मधारय), दुरोदरच्छद्मना जितां दुरोदरच्छद्मजिताम् (तृतीया तत्पुरुष)। समीहते=चेष्टा करता है, अभिलाषा सहित प्रयत्न करता है, सम्+इह+लट् लकार, प्र० पु० एकवचन। नयेन जगतीं जेतुम्=नीति के द्वारा पृथ्वी को जीतने के लिए। जेतुम्—जि+तुमुन्, जीतने के लिये, वश में करने के लिए। सुयोधनः=सुखेन युध्यते इति सुयोधनः, दुर्योधन। सु+युध्+युच् प्रत्यय।

संस्कृतव्याख्या—सुयोधनः=दुर्योधनः, सुखेन युध्यते सुयोधनः। नृपासनस्थः अपि=राजसिंहासनस्थः अपि, नृपस्यासनं नृपासनम्, तस्मिन् तिष्ठतीति नृपासनस्थः, वनाधिवासिनः=वनवासिनः, वने विहरतः, वनमधिवसतीति वनवासी, तस्मात्, भवतः=युधिष्ठिरात्। पराभवम्=पराजयम्, 'पराभवः परिभवः परिभूतः पराजयः' इति कोषः। विशङ्कमानः=उत्प्रेक्षमाणः, मन्यमानः। दुरोदरच्छद्मजिताम्=द्यूतछद्मना प्राप्ताम्। दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरम्, छद्मना जिताम्=दुर्नयार्जिताम् 'दुरोदरे द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः। जगतीम्=महीम्, राज्यम्, नयेन=नीत्या; राजधर्मेण 'ओषः प्लोषे नयो न्याये' इत्यमरः। जेतुम्=वशीकर्त्तुम्, समीहते=चेष्टते, व्याप्रियते। न्यायेन राष्ट्रं पालयन् स्ववशीकर्त्तुमिच्छति। अस्मिन्पद्ये काव्यलिङ्गालङ्कारः। तल्लक्षणम्—'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता'।

भावार्थ—राजसिंहासन पर बैठा हुआ भी दुर्योधन वन में निवास करनेवाले आप से पराजय की आशंका कर रहा है और (इस कारण) जुए के छल से जीती गई पृथ्वी को (अर्थात् राज्य को) अब नीति से जीतने का सम्यक् प्रयास करना चाहता है।

टिप्पणी—(१) दूसरे वाक्य द्वारा हेतु प्रदर्शित कर पहले वाक्य के अभिप्राय का समर्थन किया गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है। 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता'—मम्मट। (२) सुयोधन के राजसिंहासन पर आसीन होने तथा युधिष्ठिर के वन में निवास करने का वर्णन कर दोनों की स्थिति का अन्तर बताया गया है और फिर भी दुर्योधन को शङ्कित एवं भयभीत वर्णित किया गया है। (३) तात्पर्य यह है कि यद्यपि उसने जुए के छल धूर्तता का अवलम्बन कर राज्य हथिया लिया किन्तु अब वह नीति के मार्ग पर चलकर प्रजा का लोकप्रिय शासक बनने का प्रयत्न कर रहा है।

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥ ८॥

अन्वयः—तथा जिह्मः अपि स भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तनोति। भूतिं समुन्नयन् महात्मभिः समं विरोधः अपि अनार्यसङ्गमात् वरम्।

भावार्थ—वनेचर दूत यह सूचना देता है कि कुटिल होते हुए भी दुर्योधन अपने गुणों का विस्तार करके यशस्वी बनने का प्रयास कर रहा है।

पदव्याख्या—तथापि=फिर भी, शङ्कित होता हुआ भी (अथवा इसके पदों को अलग करके इस प्रकार अन्वय किया जा सकता है—'तथा जिह्मः अपि सः'=और कुटिल होता हुआ भी वह दुर्योधन)। जिह्मः=कुटिल, दुष्ट, हा+मन् उणादि प्रत्यय। जहाति सन्मार्गं हीयते वा 'जिह्मस्तु कुटिले मन्दे' हैमः। ('सः' का विशेषण) भवज्जिगीषया=आप को जीतने की इच्छा से। भवतः जिगीषा भवज्जिगीषा (षष्ठी तत्पुरुष), तया भवज्जिगीषया। हेतु अर्थ में तृतीया हुई। जिगीषा, जि+सन् अ+टाप् स्त्री-प्रत्यय। आप से भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करने की इच्छा से। शुभ्रं यशः तनोति=विमल यश फैला रहा है, निर्मल कीर्ति का विस्तार कर रहा है। तन्+लट् लकार। गुणसम्पदा=गुणों के वैभव से, गुणों से उत्पन्न महत्ता द्वारा। गुणानां सम्पत् गुणसम्पत् (षष्ठी तत्पुरुष), तया। सम्+पद्+क्विप् प्रत्यय। समुन्नयन्=वृद्धि करनेवाला, उत्कर्ष करते हुए। भूमि समुन्नयन्=उत्कर्ष को बढ़ानेवाला। सम्+उत्+नी+शतृ प्रत्यय कर्त्तरि। ('विरोधः' के लिए) भू+क्तिन् प्रत्यय भावे=भूतिः, ताम्। भूतिम्=ऐश्वर्य को, महानता को, उत्कर्ष को। अनार्यसङ्गमात्=दुर्जनों के साथ मित्रता, सङ्गम का यहाँ अर्थ है मित्रता। नीचों की मित्रता की अपेक्षा। न आर्यः अनार्यः, तस्य सङ्गमः अनार्यसङ्गमः, तस्मात् (नञ् तथा षष्ठी तत्पुरुष)। आर्यः=ऋ+ण्यत् प्रत्यय (अर्यते अर्तुं योग्यो वा)। सङ्गमः=सम्+गम्+अप् भावार्थक, महात्मभिः समं विरोधः अपि वरम्=सज्जनों या श्रेष्ठजनों के साथ विरोध भी श्रेयस्कर है। 'समम्' के योग में 'महात्मभिः' में तृतीया हुई, 'सहयुक्तेऽप्रधाने' नियम से। महान् आत्मा येषां ते महात्मानः, तैः। समम्=साथ, विरोधः=वि+रुध् प्रत्यय। वरम्=अच्छा है, कुछ अच्छा है, श्रेयस्कर है।

संस्कृतव्याख्या—तथा जिह्मः अपि स=कुटिलोऽपि सुयोधनः, कपटकुशलोऽपि। 'जिह्मस्तु कुटिलेऽलसे' इत्यमरः। भवज्जिगीषया=भवन्तमाक्र-

मितुमिच्छया, जेतुमिच्छया वा (जेतुच्छिा जिगीषा)। गुणसम्पदा=गुणैः, दानदाक्षिण्यादिभिः, शुभ्रं यशः=निर्मलां कीर्तिम् 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। तनोति=विस्तारयति। भूर्ति समुन्नयन्=उत्कर्षमापादयन्. 'विभूति-र्भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा' इत्यमरः। महात्मभिः समम्=सज्जनैः सह, 'साकं सत्रा समं सह' इति कोषः। विरोधः अपि=विग्रहोऽपि, 'विरोधो विग्रहो मतः' इति कोषः। अनार्यसङ्गमात् ('पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी) वरम्=मनाक्, प्रियम्, श्रेष्ठम्, ईषत् प्रियम्। 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। मल्लिनाथेनात्र समाप्तस्य वाक्यस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्ताख्यानदोषः प्रदर्शितः। अत्र अर्थान्तरन्यासालङ्कारः।

भावार्थ—कुटिल होता हुआ भी वह (सुयोधन) आपको भी जीत लेने की इच्छा से (अर्थात् गुणों से आपको आक्रान्त करने की इच्छा से) गुणों की महानता द्वारा विमल कीर्ति का विस्तार कर रहा है। उत्कर्ष को बढ़ानेवाला महान् लोगों के साथ विरोध भी दुर्जनों की मित्रता की अपेक्षा कुछ श्रेयस्कर ही होता है।

टिप्पणी—(१) 'तथापि जिह्मः' अन्वय करने पर, फिर भी। किन्तु पिछले श्लोक के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर 'तथापि' का अर्थ नहीं बैठता, 'तथा जिह्म अपि' अधिक अच्छा रहेगा। (२) यहाँ विशेष कथन की सामान्य कथन द्वारा पुष्टि होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है—'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः' अप्पयदीक्षित। (३) 'समुन्नयन् भूतिमनार्य—' आदि सूक्ति है। इसी प्रकार का भाव इस पद्य में भी है—'वरं पण्डितशत्रुश्च न मूर्खो हितकारकः।' (४) मल्लिनाथ ने इस पद्य में समाप्तपुनरात्तक दोष बताया है। प्रथम वाक्य का कथन समाप्त हो जाने के बाद पुनः उसका आदान किया गया है ॥ ८ ॥

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—कृतारिषड्वर्गजयेन, अगम्यरूपां मानवीं पदवीं प्रपित्सुना, अस्ततन्द्रिणा, तेन नक्तं दिवं विभज्य, नयेन पौरुषं वितन्यते।

भावार्थ—दुर्योधन क्रोधादि पर विजय प्राप्त करके तथा आलस्य का परित्याग करके मनु के मार्ग पर चल रहा है। इस प्रकार वह अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।

पदव्याख्या—कृतारिषड्वर्गजयेन=छः शत्रुओं के समूह पर विजय प्राप्त करनेवाले (उस दुर्योधन) द्वारा। (चौथे चरण के 'तेन' का विशेषण)। समासविग्रह—षण्णां वर्गः (षष्ठी तत्पुरुष), अरीणां षड्वर्गः अरिषड्वर्गः (षष्ठी तत्पुरुष), कृतः अरिषड्वर्गस्य जयः येन: सः कृतारिषड्वर्गजयः, तेन। (बहुव्रीहि)। जि+अच्=जयः। यह समास अव्याकरणीय प्रतीत होता है, क्योंकि 'वर्ग' शब्द का समास 'अरि' से होना चाहिए 'षष्' से नहीं। मल्लिनाथ ने इसे 'शिवभागवत' की तरह शुद्ध माना है, जिसका अर्थ है—शिवस्य भागवतम्, भगवतः शिवम्। 'कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तदा। षड्वर्गमुत्सृजेदेवमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः॥' कामन्दकीयनीति। मानवीम्=मनु द्वारा निर्दिष्ट नीति का। मनोरियं मानवी, ताम्। मनु+अण्+ङीप्, स्त्री प्रत्यय (पदवीम् का विशेषण)। अगम्यरूपाम्=जिसे प्राप्त करना सरल नहीं है, जिस मार्ग पर सभी नहीं चल सकते (पदवीम् का विशेषण)। न गम्या अगम्या, अतिशयेन अगम्या अगम्यरूपा। रूपप् प्रत्यय से टाप् स्त्री प्रत्यय। पदवीम्=मार्ग, पद्यते अनया इति पदवी, पद+अवी (उणादि), 'पद्यतिभ्यामवि' से। प्रपित्सुना=प्राप्त करने की इच्छावाले (उस दुर्योधन) द्वारा। प्रपत्तुमिच्छुः प्रपित्सुः, तेन। प्र+पद+सन्+उः कर्तरि। नक्तं दिवं विभज्य =रात और दिन बाँटकर। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् (द्वन्द्व समास)। वि+भज्+क्त्वा (ल्यप्)। अस्ततन्द्रिणा=आलस्यहीन होनेवाले उनके द्वारा ('तेन' का विशेषण), अस्ता तन्द्रिः यस्य, तेन। तद्+क्रिम् उणादि। भानुजी दीक्षित के अनुसार 'द्रा' धातु 'स्पृहिगृहि' अचः इ। तेन पौरुषं वितन्यते=उनके द्वारा पौरुष का विस्तार किया जा रहा है। वह अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है। पौरुषं=पुरुषस्य कर्म पौरुषम्, पुरुष+अण्। वितन्यते—वि+तन्+लट्लकार, कर्मवाच्य। नयेन=नीति से, नी+अच् भावे।

संस्कृतव्याख्या—कृतारिषड्वर्गजयेन = विजितकामक्रोधादिषड्वर्गेण—षण्णां वर्गः षड्वर्गः, अरीणां शत्रूणां कामक्रोधादीनां मनोविकाराणां षड्वर्गः अरिषड्वर्गः, तस्य जयः कृतः येन सः, तेन दुर्योधनेन। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। अगम्यरूपाम्=साधारणजनैरज्ञेयाम्, दुष्प्राप्याम्। मानवीम्=मनुप्रतिपादिताम्, मनोरियम् मानवी, ताम्। पदवीम्=प्रजापालनरीतिम्, नीतिमार्गम् 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः।

प्रेपित्सुना=प्राप्तुमिच्छुना, प्रपत्तुमिच्छुना, प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अस्त-तन्द्रिणा=अनलसेन, सदा तत्परेण, तेन=दुर्योधनेन, नक्तन्दिवम्=अहोरात्रम्, नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्, विभज्य=विभागं कृत्वा, समयविभागं विधाय, नयेन=नीत्या, राजधर्मपालनेन, पौरुषम्=पौरुषाचरणम्, पुरुषकारः वा (पुरुषस्य कर्म पौरुषम्), वितन्यते=विस्तार्यते।

भावार्थ—(काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान, मद, मानसिक विकार रूपी) छः शत्रुओं के समूह पर विजय प्राप्त कर, (स्मृतिकार) मनु द्वारा निर्दिष्ट (नीति के) मार्ग को प्राप्त करने की इच्छा से आलस्यरहित वह (दुर्योधन) रात-दिन का विभाजन करके नीति से अपने पौरुष का विस्तार कर रहा है, (मूलतः कर्मवाच्य में वाक्य है।)

टिप्पणी—(१) दूसरे चरण में 'प' की तथा आगे 'न' 'त' की आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास। (२) इसमें आदर्श राजा के गुणों और उसकी आलस्य-हीनता आदि का उल्लेख है। भारवि का राजनीति-विषयक अध्ययन इस पद्य में स्पष्ट है॥ ९॥

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥ १०॥

अन्वयः—गतस्मयः सः अनुजीविनः प्रीतियुजः सखीन् इव सुहृदः बन्धुभिः समानमानान् इव, बन्धुतां (च) कृताधिपत्याम् इव साधु सन्ततं दर्शयते।

भावार्थ—इस पद्य में दुर्योधन द्वारा सेवकों आदि के प्रति किये जानेवाले सम्मानपूर्ण व्यवहार का वर्णन किया गया है।

पदव्याख्या—प्रीतियुजः सखीन् इव—प्रिय मित्रों की तरह, प्रेम युक्त मित्रों जैसे। प्रीत्या युज्यन्ते इति प्रीतियुजः, तान्। प्रीतिः=प्री+क्तिन् प्रत्यय, युजः=युज्+क्विप् कर्तरि प्रत्यय। अनुजीविनः=सेवकों को (द्वितीया बहु-वचन)। अनु+जीव्+णिनि प्रत्यय कर्तरि। अनुजीवन्ति इति अनुजीविनः, तान्। समानमानान्=समान आदर से युक्त, बन्धुभिः समानमानान्=बन्धुओं के समान आदर से युक्त। समानः मानः येषां ते समानमानाः, तान् (बहुव्रीहि समास)। सुहृदः=मित्रों को, शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः, तान् सुहृदः। सु और दुर् के साथ संयुक्त होने पर हृदय को हृद् हो जाता है। गतस्मयः=अहङ्काररहित हो, जिसका अहङ्कार चला गया है (सः का विशेषण) गतः स्मयः यस्य सः (बहुव्रीहि समास)। स्मयः=स्मि+अच् प्रत्यय। 'तस्मै स्मयादेश

विवर्जिताय' रघुवंश ५·१९। सन्ततं दर्शयते—सदैव दिखाता है। दूसरों को उस प्रकार का दिखाता है, व्यवहार करता है। दृश्+णिच्+लट् लकार। आत्मनेपद का प्रयोग सूचित करता है कि क्रिया का फल कर्त्ता को मिलता है। तात्पर्य यह है कि उसका सेवकों के साथ व्यवहार इस प्रकार का है कि देखने वाले उन्हें मित्र समझते हैं, इत्यादि। इस पर मल्लिनाथ ने अपने से पहले के व्याख्याकारों की भिन्न व्याख्या का उल्लेख किया है। कृताधिपत्याम् इव—जिनका आधिपत्य हो इस प्रकार का, मानों वे अधिपति ही बना दिये गये हों, स्वामी हों, कृतम् अधिपत्यं यस्याः सा कृताधिपत्या, ताम्, (बहुव्रीहि 'बन्धुताम्' के लिए) अधिपतेः भावः आधिपत्यम् (अधिपति+यक्, भावे) 'पत्यन्तपुरहितादिभ्यो यक्' सूत्र से। अथवा 'ष्यञ्' प्रत्यय भी। साधु=अच्छी प्रकार, प्रयत्नपूर्वक, मन से। बन्धुताम्=बन्धुओं का समूह, बन्धुगण। बन्धूनां समूहो बन्धुता, ताम्। बन्धु+तल्+टाप् (स्त्री प्रत्यय)। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' से समूहार्थ तल प्रत्यय।

संस्कृतव्याख्या—गतस्मयः=अहङ्कारहीनः, अपगतमानः, सः दुर्योधनः, अनुजीविनः=सेवकान्; भृत्यान् 'सेवकार्थ्यनुजीविनः' इत्यमरः। प्रीतियुजः सखीन् इव दर्शयते=स्नेहयुक्तान् मित्राणि इव बोधयते, प्रीत्या युञ्जन्ति ये ते प्रीतियुजः, तान्। 'वयस्यः स्निग्धः सवया अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः। सुहृदः=मित्राणि च, बन्धुभिः समानमानान् इव दर्शयते=निजपरिवारजनैः, समानमानान्=समादरान्, दर्शयते=बोधयते, समानः मानो येषां ते, तान्, शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः, तान्। बन्धुताम्=बन्धुवृन्दं च, 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'। कृताधिपत्याम् इव=कृतसर्वाधिकाराम् इव, 'कृतमाधिपत्यं यस्यास्ताम्। साधु=सम्यक्। सन्ततम्=सर्वदा। दर्शयते=बोधयते। लोकाय दर्शयते। सर्वेषां सत्कारं कुरुते।

भावार्थ—निरभिमानी वह (दुर्योधन) सेवकों से प्रेमयुक्त मित्रों की तरह व्यवहार करता है (शाब्दिक अर्थ—दिखलाता है) मित्रों के प्रति बन्धुओं के समान आदर से व्यवहार करता है तथा बन्धुवर्ग को राज्य के स्वामी जैसे सदैव भली-भाँति प्रदर्शित करता है (अर्थात् इस प्रकार व्यवहार करता है कि दूसरे वैसा समझते हैं)।

टिप्पणी—इसमें सुयोधन का अपने सेवकों आदि के प्रति सम्मानपूर्ण

व्यवहार का उल्लेख किया है। 'साधु' का यहाँ विशिष्ट अर्थ है कि वह हृदय से भली-भाँति व्यवहार करता है, केवल दिखावटी नहीं ॥ १० ॥

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः अस्य त्रिगणः, गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव परस्परं न बाधते ।

भावार्थ—इस पद्य में सुयोधन के धर्म, अर्थ और काम के निर्विरोध विस्तार का वर्णन किया गया है।

पदव्याख्या—असक्तम्—अनासक्त होकर, व्यसन में न पड़ कर, विशेष रूप से किसी में लिप्त न होकर। न सक्तम् असक्तम् (नञ् तत्पुरुष)। सक्त= सञ्ज+क्त (कर्तरि)। असक्तं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषण)। आराधयतः=सेवन करते हुए (चौथे चरण के 'अस्य' का विशेषण) सेवन करनेवाले का। आ+राध+शतृ=आराधयन्, तस्य। यथायथम्=स्वरूप के अनुसार स्वभाव के अनुरूप। यह शब्द अनियमित रूप से व्युत्पन्न है। 'यथास्वे यथायथम्' सूत्र से द्विर्भाव हुआ, अव्ययीभाव समास हुआ और नपुंसकलिंग हुआ। विभज्य =बाँट कर; विभाग करके, वि+भज्+क्त्वा (ल्यप्)। समपक्षपातया भक्त्या =समान पक्षपातवाली भक्ति से, समान अनुराग रखते हुए, एक जैसी दृष्टि से। पक्षे पातः पक्षपातः। समः पक्षपातः यस्यां सा समपक्षपाता, तया। भक्त्या =भज्+क्तिन् प्रत्यय, (भावे) भक्तिः, तया। धर्म, अर्थ, काम तीनों के प्रति समान ध्यान रखने से। गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव=गुणों के अनुराग के कारण मित्रता-सी प्राप्त करके, मित्र जैसे बनकर। गुणेषु अनुरागः गुणानुरागः, तस्मात्। अनुरागः=अनु+रञ्ज+घञ् (भावे)। सख्यम्=सखि+य, 'सख्युर्यः' सूत्र से। ईयिवान्=प्राप्त करता हुआ, पहुँचता हुआ; इ+लिट्+ क्वसु प्रत्यय, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' सूत्र से 'उपेयिवस्' के अर्थ में 'इयिवस्' भी रूप बनता है। न बाधते=बाधा नहीं पहुँचाता, बाध्+लट् लकार। अस्य त्रिगणः=इसके धर्म, अर्थ काम तीनों का समूह। त्रयाणां गणः त्रिगणः ('बाधते' का कर्ता)। परस्परम्=एक-दूसरे को। यह समास शब्द नहीं है। परम का द्वित्व 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' वार्तिक से होता है।

संस्कृतव्याख्या—यथायथम्=यथास्वम्, स्वरूपानुसारम्। विभज्य=

विभागं कृत्वा, विविच्य। समपक्षपातया=अविषमदृष्टया, पक्षे पातः पक्षपातः, समः पक्षपातः यस्यां सा, तया। भक्त्या=अनुरागविशेषेण। असक्तम्=अनासक्तम्। आराधयतः=सेवमानस्य। अस्य=सुयोधनस्य। त्रिगणः=धर्मार्थकाम इत्येवंरूपः, गुणानुरागात्=दुर्योधनस्य गुणेष्वनुरागात्। सख्यम्=मैत्रीम्। ईयिवान् इव=उपेयिवान् इव, उपगतवान् इव। परस्परं न बाधते=परां बाधां न करोति। यदा सः धर्मं सेवते तदाऽर्थकामौ न बाधेते। अर्थसञ्चयकाले धर्मकामौ न पीडयतः, 'कामसेवनकाले च अर्थधर्मौ न बाधेते। उक्तं च 'धमार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः'।

भावार्थ—(धर्म अर्थ काम का) स्वरूप के अनुसार विभाजन करके, सब पर समान पक्षपातपूर्ण आसक्ति से, किसी एक में विशेष रूप से लिप्त न होकर सेवन करनेवाले इस सुयोधन के धर्म, अर्थ तथा काम तीनों का समूह उसके गुणों के अनुराग के कारण मित्रता सी प्राप्त करके (अर्थात् सामञ्जस्य के साथ) एक दूसरे की वृद्धि में बाधा नहीं पहुँचाता है।

टिप्पणी—(१) अर्थात् उसका सुखोपभोग धर्म के विपरीत नहीं है, अर्थव्यवस्था भी धर्म के प्रतिकूल नहीं है; तीनों में सामञ्जस्य है और वे एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं। (२) इसमें प्राचीन भारतीय जीवन आदर्श धर्म, अर्थ, काम के सन्तुलन के मार्ग का वर्णन किया गया है। ये तीनों मोक्ष के कारण हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को पुरुषार्थचतुष्टय कहते हैं ॥ ११ ॥

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥ १२ ॥

अन्वयः—तस्य निरत्ययं साम दानवर्जितं न प्रवर्तते। भूरिदानं सत्क्रियां विरहय्य न (प्रवर्तते)। विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न (प्रवर्तते)।

भावार्थ—साम, दान, दण्ड, भेद चार उपायों के प्रयोग के सन्दर्भ में दुर्योधन द्वारा अपनायी गयी साम और दान की नीति का उल्लेख इस पद्य में किया गया है।

पदव्याख्या—निरत्ययम्=सफल, बाधारहित; निर्गतः अत्ययः यस्मात्, (बहुव्रीहि) अत्ययः=अति+इ+अच् (भावे)। साम=सान्त्वना का उपाय, सन्तोष देनेवाली नीति, दानवर्जितं न=दानरहित नहीं होती, दानेन वर्जितं दानवर्जितम्, (तृतीया तत्पुरुष)। दा+ल्युट्+दानम्। वर्जितम्=वृज+णिच्+क्त। भूरिदानं सत्क्रियां विरहय्य न=प्रचुर दान सत्कार को छोड़

कर नहीं होता अर्थात् सत्कार के साथ प्रचुर दान देता है। भूरि=प्रचुर। सत्क्रिया=सत् तस्य क्रिया सत्क्रिया, ताम्। अस्+लट्+शतृ=सत्। आदर और अनादर के अर्थ में क्रमशः सत् और असत् अव्यय होते हैं। विरह्य=छोड़कर, वि+रह+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। न प्रवर्त्तते=नहीं होती। प्र+वृत् लट् लकार, प्र० पु० एकवचन। तस्य=उसकी, दुर्योधन की। विशेषशालिनी=विशेष रूपवाली, असामान्य (सत्क्रिया का विशेषण) विशेष सम्मान से युक्त। विशेषेण शालते इति विशेषशालिनी। विशेषः=वि+शिष्+घञ्। शाल्+णिनि (कर्तरि) ताच्छील्ये=शालिनी। गुणानुरोधेन विना न=गुणों के विचार के बिना नहीं होती अर्थात् विशेष रूप से सत्कार करते समय गुणों का विचार करके ही विशेष सत्कार करता है। गुणानामनुरोधः (समास तत्पुरुष), तेन। विना के योग में तृतीया। अनु+रुध्+घञ् प्रत्यय।

संस्कृतव्याख्या—तस्य=सुयोधनस्य, निरत्ययम्=निरापदम्, निर्विघ्नम्, निर्गतः अत्ययो यस्मात्तद् निरत्ययम्। साम=सान्त्वनम्, मधुरवचनम्। 'साम सान्त्वमुभे समे'—अमरकोश। दानवर्जितं न=धनदानेन विना न प्रवर्तते अपितु धनदानं करोत्येव। प्रवर्त्तते=भवति। भूरिदानम्=प्रचुरधनदानम्। सत्कियाम्=सत्कारम्, 'आदरानादरयोः सदसती' सत् तस्य क्रिया सत्क्रिया, ताम्। विरह्य=न प्रवर्तते। विशेषशालिनी=अतिशययोगिनी, विशेषेण शालते इति विशेषशालिनी। सत्क्रिया=सत्कारः, गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते =गुणपक्षपातेन विना न प्रवर्तते। गुणानामनुरोधः, तेन। 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' अत्र पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम्। विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा'॥ इति काव्यप्रकाशे।

भावार्थ—उस सुयोधन का निर्विघ्न साम-नीति का प्रयोग धनदान के बिना नहीं होता, प्रचुर धनदान भी समुचित सत्कार के बिना नहीं होता, विशेष प्रकार का सत्कार भी गुणों का विचार किये बिना नहीं होता।

अर्थात् वह जिसे प्रचुर धन देता है, उसका सत्कार भी करता है और किसी का विशेष सत्कार करता है, तब उसके गुणों का भी विचार करता है।

टिप्पणी—(१) इसमें साम तथा दान की नीति का उल्लेख है। सामान्य

चार उपाय माने गये हैं, कभी-कभी—माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल या मन्त्र, औषध तथा इन्द्रजाल—तीन और उपाय कहे गये हैं। (२) इस पद्य में एकावली अलंकार है। एवं एक बात को छोड़कर आगे पदार्थ का विशेषण दिया गया है ॥ १२ ॥

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न, मन्युना न, (किन्तु) निवृत्त-कारणः (सन्) स्वधर्मः इत्येव गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुते अपि वा (स्थितं) धर्मविप्लवं निहन्ति।

भावार्थ—इस पद्य में दुर्योधन की दण्डनीति का एवं निष्पक्ष न्याय-प्रियता का उल्लेख है। अपराध करनेपर शत्रु या स्वयं अपने पुत्र को भी वह दण्ड देता है।

पदव्याख्या—वशी = इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, जितेन्द्रिय, संयमी (सुयोधन, चौथे चरण के सः का विशेषण)। वशः अस्ति अस्येति, वशी=वश + इनि प्रत्यय। वसूनि वाञ्छन् न=धन चाहते हुए नहीं, धन प्राप्त करने की इच्छा से नहीं। वसु=धन, 'वसु तोये धने मणौ'—वैजयन्ती। वाञ्छन्=चाहते हुए, वाञ्छ् + शतृ प्रत्यय। अर्थात् लोभ से प्रेरित होकर नहीं। मन्युना न =क्रोध से नहीं, क्रोध के वशीभूत होकर नहीं। मन्यु=क्रोध 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' अमरकोष। स्वधर्म इति एव=अपना धर्म है, ऐसा ही समझ कर, राजधर्म मान कर, कर्तव्य समझ कर (धन के लोभ या क्रोध से प्रेरित न होकर बल्कि कर्तव्य बुद्धि से)। स्वस्य धर्मः स्वधर्मः (षष्ठी तत्पुरुष)। निवृत्तकारणः=बिना कारण के। निवृत्तं कारणं यस्य सः (बहुव्रीहि समास) निवृत्त=नि + वृत् + क्त (कर्तरि)। कारणम्=कृ + णिच् + ल्युट् (सः का विशेषण)। गुरूपदिष्टेन=गुरु द्वारा निर्दिष्ट (दण्डेन का विशेषण)। गुरुभिः उपदिष्टः गुरूपदिष्टः (तृतीया तत्पुरुष), तेन। उपदिष्टः=उप + दिश् + क्त (कर्मणि)। रिपौ=शत्रु में, 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' अमरकोष। सुतेऽपि वा=अथवा अपने पुत्र में भी। आधारे सप्तमी। सः धर्मविप्लवं दण्डेन निहन्ति=वह धर्म के उल्लंघन को दण्ड से रोकता है। धर्मविप्लवम्=धर्मस्य विप्लवः धर्मविप्लवः (षष्ठी तत्पुरुष), तम्। धर्म के व्यतिक्रम को। वि +

प्लु+अप् (भावे) । दण्डेन=दमन करके, ताडना द्वारा, वध, अर्थग्रहण
परिक्लेश द्वारा । निहन्ति=निवारण करता है, रोकता है । नि+हन्+
लकार । तुलना—मनु ८।३३५—

'पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।।

संस्कृतव्याख्या—वशी=जितेन्द्रियः, सः=सुयोधनः, वसूनि वाञ्छन्
धनानि इच्छन् न, 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । मन्युना न=कोपेन
क्रोधेन न । किन्तु निवृत्तकारणः=कारणरहितः (सन्) । निवृत्तानि कारणा
यस्मात् सः । स्वधर्मः इत्येव=राजधर्मः इति, मम कर्तव्यम् इत्यस्मादेव हेतो
गुरूपदिष्टेन=धर्मशास्त्रकारोपदेशानुसारेण, अमात्यानामुपदेशानुसारेण । रि
=शत्रौ, 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । सुते अपि वा=
पुत्रेऽपि वा स्थितम् । धर्मविप्लवम्=धर्मव्यतिक्रमम् । धर्मस्य विप्लवः धर्म
प्लवः, तम् । वि+प्लु+अप् (भावे) । निहन्ति=दण्डयति, निवारयति,
सम शत्रुमित्रयोरुपरि भेददृष्ट्या न विलोकयतीति ।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में रखनेवाला वह दुर्योधन धन प्राप्त क
की इच्छा से नहीं, और न ही क्रोध के कारण (दण्ड देता है), अपितु वि
किसी कारण के ही यह मेरा धर्म है, ऐसा मानकर गुरुओं (धर्मशास्त्रकारों
के उपदेश के अनुसार दण्ड देकर शत्रु के और पुत्र के भी धर्मोल्लंघन का नि
रण करता है ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'न' की कई बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास

विधाय रक्षान् परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः ।
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ।। १४ ।।

अन्वयः—(सः) शङ्कितः (सन्) परितः परेतरान् रक्षान् विधा
अशङ्किताकारम् उपैति । क्रियापवर्गेषु अनुजीविसात्कृताः सम्पदः
कृतज्ञतां वदन्ति ।

भावार्थ—दुर्योधन की रक्षा-व्यवस्था और भेदनीति का वर्णन करते
कवि ने यह बताया है कि दुर्योधन रक्षकों को नियुक्त करके भी उन पर
कंतापूर्ण दृष्टि रखता है और सेवकों को पुरस्कार भी देता है ।

पदव्याख्या—परितः परेतरान् रक्षान् विधाय—चारों ओर अपने प
जनों को रक्षक बनाकर । परितः=सर्वत्र, सभी ओर, परि+तस् । परेत

अपने लोगों को, शत्रुओं से भिन्न जनों को, या शत्रुओं को दूर करनेवाले जनों को। इसका समासविग्रह दो प्रकार से हो सकता है। (१) परेभ्यः इतरे परेतरे, तान्। (२) परान् इतरयन्ति परेतराः, तान्। पहले विग्रह से अर्थ हुआ विरोधियों या अज्ञात लोगों से भिन्न, विश्वासपात्र लोग। दूसरे का अर्थ हुआ, शत्रुओं को या दूसरों को अपने पक्ष में मिलानेवाले, फोड़नेवाले। भेद-नीति का वर्णन होने से दूसरा विग्रह अधिक उचित है। पर+इतरि+अण् प्रत्यय (कर्तरि)। रक्षान्=रक्षक, रक्षन्तीति रक्षाः, तान् रक्षान्। रक्ष+अच्। विधाय=बनाकर, वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। अशङ्कितताकारम् उपैति=शङ्काहीन स्वरूप को प्राप्त करता है, इस प्रकार का आकार धारण करता है कि उसके शङ्कित होने का आभास नहीं मिलता, शङ्का सञ्जाता अस्येति शङ्का+इतच् प्रत्यय, 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' सूत्र से। न शङ्कित अशङ्कितः (नञ् तत्पुरुष), तस्य आकारः, अशङ्किताकारः, तम्। अथवा—अशङ्कितः आकारो यथा स्यात्तथा, तम्। उपैति=उप+इ+लट् लकार। विश्वास रखते हुए भी उनमें पूरा विश्वास नहीं करता। शङ्कितः=शङ्कायुक्त होता हुआ, शङ्का+इतच्। क्रियापवर्गेषु=कार्यों की समाप्ति पर, कार्य के सफल होने पर, पूरा होने पर, अपवर्ग=अप+वृज्+अप+अ (घञ्) 'अपवर्गस्त्यागमोक्षयोः। क्रियावसाने साकल्ये' इति हैमः। क्रियाणां अपवर्गाः क्रियापवर्गाः (षष्ठी तत्पुरुष), तेषु। अनुजीविसात्कृताः=सेवकों को पूर्णरूप से दी गयी (सम्पत्तियाँ, चौथे चरण में 'सम्पदः' का विशेषण)। अनुजीवन्ति इति अनुजीविनः, अनुजीविन्+साति=अनुजीविसात्+कृ+क्त+टाप्। इस प्रकार दी गयी कि उस सम्पत्ति पर उनका सदा सर्वदा के लिए अधिकार हो, पुरस्कार के रूप में प्रदत्त। सम्पदः अस्य कृतज्ञतां वदन्ति=सम्पत्तियाँ उसकी कृतज्ञता को बतलाती हैं। अर्थात् सेवकों को पुरस्कार के रूप में दे दी गयी सम्पत्तियों से पता चलता है कि वह कार्य पूरा करनेवालों के प्रति कितना कृतज्ञ है। कृतं जानातीति कृतज्ञः, तस्य भावः कृतज्ञता, ताम्। कृत=कृ+क्त। कृत+ज्ञा+क, 'आतोऽनुपसर्गे कः'। कृतज्ञ+तल्+टाप्।

संस्कृतव्याख्या—शङ्कितः=सन्देहयुक्तः सन्, शंका सञ्जाताऽस्य शङ्कितः, अविश्वस्तः सन्। परितः=सर्वतः, सर्वत्र। परेतरान्=आत्मीयान् स्वजनान्, परेभ्यः इतरे, परेतरे तान्, परान् इतरयन्ति परेतराः, तान्। रक्षान्=रक्षकान्, विधाय=नियुज्य। वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। अशङ्किताकारम् उपैति=

स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदिव आचरति। क्रियापवर्गेषु=कार्यसमाप्तिषु। 'अपवर्गस्त्यागमोक्षयोः। क्रियावसाने साकल्ये' इति हैमः। अनुजीविसात्कृताः =भृत्याधीनाः कृताः, सम्पदः=सम्पत्तयः, धनानि, अस्य=सुयोधनस्य, कृतज्ञताम्=उपकारज्ञताम्, वदन्ति=कथयन्ति। 'अथ सम्पदि सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः।

भावार्थ—शङ्का करता हुआ (वह सुयोधन) चारों ओर (शत्रुओं को फोड़नेवाले) अपने जनों को, रक्षकों के रूप में नियुक्त करके शङ्कारहित आकार धारण करता है। (अर्थात् आकार से शङ्कित नहीं दीखता)। सौंपे गये कार्यों के पूरा करने पर सेवकों को सदैव के लिए (पुरस्कार रूप में) दी गयी सम्पत्तियाँ उसकी कृतज्ञता प्रकट करती हैं॥ १४॥

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः॥ १५॥

अन्वयः—तेन पदेषु सम्यक् विभज्य लम्भिताः विनियोगसत्क्रियाः, उपायाः संघर्षं उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पदः अनारतं फलन्ति।

भावार्थ—दुर्योधन ने सभी उपायों का समुचित विनियोग किया है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी सभी सम्पत्तियाँ होड़ लगाकर बढ़ रही हैं।

पदव्याख्या—अनारतम्=निरन्तर, निर्बाध, सतत। आ+रम्+क्त प्रत्यय, आरतम्, न आरतम् (नञ् तत्पुरुष)। अविद्यमानम् आरतं यस्मिन्। तेन=उस दुर्योधन के द्वारा। पदेषु लम्भिताः=उचित स्थानों पर पहुँचायी गई। उचित कार्यस्थलों पर नियोजित। लभ्+णिच्+क्त (कर्मणि)। ('उपायाः' का विशेषण)। सम्यक् विभज्य=भली-भाँति विभाजन करके, अलग-अलग स्पष्ट विभाजन करके विनियोजित। सम्यक्=सम्+अञ्+क्विन् प्रत्यय। विभज्य=वि+भज्+क्त्वा (ल्यप्)। विनियोगसत्क्रियाः=उचित विनियोग के द्वारा जिनका सत्कार किया गया है। विनियोग=उचित कार्य में लगाना, वि+नि+युज्+घञ्, विनियोगः सत्क्रिया, येषां ते (बहुव्रीहि समास) विनियोग एव सत्क्रियाः विनियोगसत्क्रियाः (कर्मधारय—'उपायाः' का विशेषण)। उपायाः फलन्ति—साम, दान, दण्ड, भेदादि उपाय फलीभूत होते हैं, फल उत्पन्न करते हैं। उपायाः=उपैति अथवा उपायते एभिः, उप+इ+अच् अथवा उप+अय्+घञ्। सामान्यतः उपाय चार हैं—'भेदो दण्डः सामदानमित्युपायचतुष्टयम्'—अमरकोश। इसके अतिरिक्त माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल

अथवा मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल—तीन और उपाय माने जाते हैं। परिबृंहिता-यतीः=उज्ज्वल भविष्यवाली, चारों ओर फैलनेवाली, बढ़नेवाली (अर्थ-सम्पदः का विशेषण) सम्पत्तियों को। परिबृंहिता आयतिः यासां ताः (बहुव्रीहि समास)। परि+बृह+णिच्+क्त (कर्मणि)+टाप् प्रत्यय, परि-बृंहिता आयतिः=आ+यम्+क्तिन् (भावे)। आयतिः=समृद्धिशाली भविष्य। अतः समृद्धिशाली भविष्य वाली, स्थायी। संघर्षम् उपेत्य इव=होड़-सी लगाकर, प्रतिद्वन्द्विता करती हुई-सी, सम्+घृष्+अ (घञ्)। उपेत्य=प्राप्तकर, संघर्ष को प्राप्तकर अर्थात् दिन-दूनी रात-चौगुनी। उप+इ+क्त्वा (ल्यप्)। अर्थसम्पदः=अर्थसम्पत्तियाँ। अर्थानां सम्पदः अर्थसम्पदः, ताः (षष्ठी तत्पुरुष), सम्+पद्+क्विप्। अथवा अर्था एव सम्पदस्ताः।

संस्कृतव्याख्या—तेन=राज्ञा सुयोधनेन। पदेषु=उपादेयवस्तुषु। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। सम्यक् विभज्य=यथोचितं विभागं कृत्वा। विनियोगसत्क्रिया=विनियोगेन सत्कारवन्तः, लम्भिताः=यथास्थानप्रयुक्ताः, उपायाः=सामादयः, सङ्घर्षम्-उपेत्य इव=परस्परस्पर्धा-मुपेत्येव, उत्प्रेक्षा। परिबृंहितायतीः=प्रचितोत्तरकालाः, परिबृंहिता आयतिः यासां ताः। अर्थसम्पदः=धनसम्पत्तीः। अनारतम्=सततम्, फलन्ति=प्रसुवते। सामदानभेददण्डाः सर्वत्र सफलाः भवन्ति।

भावार्थ—उसके द्वारा उचित स्थानों पर समुचित विभाग करके पहुँचाये गये (अर्थात् प्रयुक्त) विनियोग द्वारा सुन्दर ढंग से समादृत (साम, दान, दण्ड, भेद आदि) उपाय मानों परस्पर होड़-सी लगाकर भविष्य में उत्तरोत्तर बढ़नेवाली स्थायी धनसम्पत्तियाँ निरन्तर उत्पन्न कर रहे हैं।

[अर्थात् उपायों के समुचित स्थान पर समुचित प्रयोग से उसकी हर प्रकार की समृद्धि बढ़ रही है, जो भविष्य में भी कम नहीं होगी।]

टिप्पणी—'संघर्षम् उपेत्य' में उत्प्रेक्षालंकार है। लक्षण—'सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा'—मम्मट ॥ १५ ॥

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥ १६ ॥

अन्वयः—नृपोपायनदन्तिनाम् अयुग्मच्छदगन्धिः मदः तदीयम् अनेकराजन्य-रथाश्वसङ्कुलम् आस्थाननिकेतनाजिरं भृशम् आर्द्रतां नयति।

भावार्थ—इस पद्य में दुर्योधन की अर्थ-सम्पत्तियों का उल्लेख करते हुए

उपहार में प्राप्त हाथियों एवं घोड़ों से उसके महल के आँगन को परिपूर्ण बताया गया है।

पदव्याख्या—अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्=अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरा हुआ ('आस्थाननिकेतनाजिरम्' का विशेषण), न एके अनेके, अनेके राजन्याः अनेकराजन्याः (कर्मधारय), रथाश्च अश्वाश्च रथाश्वम् (द्वन्द्व समास), 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' सूत्र से नपुंसकलिङ्ग। अनेकराजन्यरथाश्वेन सङ्कुलमिति अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्। राज्ञां समूहो राजन्यः; वा राज्ञामपत्यादि पुमांसो राजन्याः। तदीयम्=उसका, तद+क+ईय्। दुर्योधन का। आस्थाननिकेतनाजिरम्=राजसभाभवन का आँगन। आतिष्ठन्त्यस्मिन् इत्यास्थानम्; अधिकरणे ल्युट्, राजा का सभाभवन, दरबार। निकेतनम्=भवन, अजिरम्=आँगन। आस्थानस्य निकेतनम् आस्थाननिकेतनं (षष्ठी तत्पुरुष), आस्थाननिकेतनस्य अजिरम् आस्थाननिकेतनाजिरम्। आस्थान=आ+स्था+ल्युट्। निकेतनम्=निकित्यतेऽस्मिन् इति, नि+कित्+ल्युट्। अजिरम्=अज्+इर (किरच् उणादि)। नयति=ले जाता है, पहुँचाता है, बनाता है, नी+लट्। आर्द्रतां नयति=गीला बनाता है। अयुग्मच्छदगन्धिः=छितवन के फूल की गन्धवाला (मदः का विशेषण), छितवन में सात पत्ते एक-एक गुच्छे में होते हैं, सात संख्या युग्म संख्या न होकर अयुग्म है, जिसमें जोडा नहीं बनता। न युग्मः अयुग्मः (नञ् तत्पुरुष), अयुग्माः छदाः अस्येति अयुग्मच्छदः (बहुव्रीहि), तस्य विकारः पुष्पम् अयुग्मच्छदम्। अयुग्मच्छद+अण्=अयुग्मच्छदम्, 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' सूत्र से अण् का लोप हो गया। तस्य गन्धः अयुग्मच्छदगन्धः (षष्ठी तत्पुरुष), अयुग्मच्छदस्य गन्ध इव गन्धो यस्य तद् अयुग्मच्छदगन्धि (बहुव्रीहि)। 'उपमानाच्च' से अन्त में 'इ' जोड़कर गन्धि बना। आर्द्रताम्=गीलेपन को, आर्द्रस्य भावः आर्द्रता, ताम्। आर्द्र+तल्+टाप्। भृशम्=अत्यन्त। नृपोपायनदन्तिनां मदः=राजाओं द्वारा उपहार में दिये गये हाथियों का मदजल, नृपाणाम् उपायनानि नृपोपायनानि (षष्ठी तत्पुरुष), नृपोपायनानि दन्तिनः नृपोपायनदन्तिनः (कर्मधारय), तेषां नृपोपायनदन्तिनाम्। उपायन=उपहार, उप+इ+ल्युट्। अतिशयितौ दन्तौ अस्या दन्ती–दन्त+इनि। मदः=हाथियों के मस्तक से प्रवाहित होनेवाला गन्धयुक्त द्रव।

संस्कृतव्याख्या—नृपोपायनदन्तिनाम्=नृपाणामुपहारभूतानां करीणाम्। नृपाणाम् उपायनानि नृपोपायनानि नृपोपायनानि दन्तिनः, तेषाम्। करदभूप-

हारीकृतानां श्रेष्ठगजानाम् । अयुग्मच्छदगन्धिः=सप्तपर्णपुष्पगन्धिः, न युग्मः अयुग्मः, अयुग्माः छदाः अस्य इति अयुग्मच्छदः, तस्य विकारः अयुग्मच्छदं पुष्पम्, तस्य गन्धः इव गन्धो यस्य तत् । मदः=दानवारि, गण्डस्थलनिःसृतद्रव-विशेषः, तदीयम्=दुर्योधनस्य, अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्=असंख्यभूपकुलरथ-घोटकाकीर्णम्, अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलम् । आस्थाननिकेतनाजिरम् =सभाभवनप्राङ्गणम्, आतिष्ठन्ति अस्मिन् इति आस्थानम्, आस्थानस्य निकेत-नम् आस्थाननिकेतनम्, तस्य अजिरम् । भृशम्=अत्यर्थम्, आर्द्रतां नयति=पङ्कि-लत्वं नयति, प्रापयति वा । अत्र उदात्तालङ्कारः । 'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' ।

भावार्थ—राजाओं द्वारा उपहार में दिये गये हाथियों का सप्तपर्ण पुष्प की गन्धवाला मद उस (सुयोधन) के सभाभवन के आँगन को, जो अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरा हुआ है, अत्यधिक गीला बना रहा है ।

अर्थात् उसके अधीन राज्य करनेवाले असंख्य राजाओं ने उसे उपहार में अनगिनत श्रेष्ठ हाथी प्रदान किए हैं ।

टिप्पणी—यहाँ उदात्त अलंकार है । जहाँ समृद्धि का वर्णन होता है, वहाँ उदात्त अलंकार होता है । 'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम्' इति ॥ १६ ॥

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति ॥ १७ ॥

अन्वयः—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति (सति) अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्या इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधतः (सन्तः) चकासति ।

भावार्थ—इस पद्य में जनता की खुशहाली, खेती की समृद्धि तथा किसानों के सुख का उल्लेख कर उसके प्रजापालन की दक्षता वर्णित की गयी है ।

पदव्याख्या—सुखेन लभ्याः=सुख से प्राप्त होने योग्य, सरलता से मिलने वाली (सस्यसम्पदः का विशेषण) । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' से 'सुखेन' में तृतीया विभक्ति, लभ्+यत् प्रत्यय (कर्मणि), लब्धुं शक्याः । दधतः=धारण करते हुए ('कुरवः' के लिए), धा+शतृ । कृषीवलैः=किसानों द्वारा, कृषकों से । 'क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषकश्च कृषीवलः'—अमरकोश । कृषि+वलच्, 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' । अकृष्टपच्या इव=खेत की जुताई के बिना ही पके हुए जैसे, मानों वे खेतों की जुताई के बिना ही पके हों । कृष्टेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः, न कृष्टपच्याः अकृष्टपच्याः (नञ् तत्पुरुष), कृष्टम्=कृष+क्तप्रत्यय (कर्मणि) । पच्या—पच्+क्यप् (कर्मकर्तरि) । शुद्धे तु कर्मणि कृष्ट-

पच्याः। सस्यसम्पदः=अन्न की सम्पत्तियाँ, फसलों की सम्पत्ति, सस्यानां सम्पदः सस्यसम्पदः (षष्ठी तत्पुरुष), ताः अथवा सस्यान्येव सम्पदः। क्षेमं वितन्वति (सति)=कल्याण करते रहने पर, तस्मिन् उस दुर्योधन के 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी। वि+तन्+शतृ, सप्तमी एकवचन। प्रजा के कुशल में लगे रहने पर। अदेवमातृकाः=वृष्टि रूपी देव पर आश्रित न रहनेवाला, जिनकी माता वृष्टिरूपी देवता नहीं है (कुरवः का विशेषण)। देव एव माता येषां ते देवमातृकाः, न देवमातृकाः इति अदेवमातृकाः। 'मातृका' में 'नद्यृतश्च' से कप् प्रत्यय। अर्थात् वृष्टि पर आश्रित न रहकर नदी के जल पर आश्रित रहनेवाले, नदीमातृक। 'देशो नद्यम्बुवृष्टयम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्॥'—अमरकोष। चिराय=चिरकाल तक। तस्मिन्=उसके, दुर्योधन के, 'वितन्वति' शतृप्रत्यय के रूप का कर्ता। कुरवः चकासति=कुरुदेश शोभित हो रहा है। 'कुरवः' देशवाचक होने से बहुवचन, देखिए पद्य १ की पदव्याख्या। चकास्+लट् लकार, बहुवचन।

संस्कृतव्याख्या—चिराय=चिरकालम्। तस्मिन्=दुर्योधने, क्षेमं वितन्वति=प्रजासु कुशलं कुर्वति सति। अदेवमातृकाः=वृष्टयम्बुजीविनः देशा देवमातृकाः, देव एव माता येषां ते देवमातृकाः, न देवमातृकाः इति अदेवमातृकाः। 'देशो नद्यम्बुवृष्टयम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्॥' इत्यमरः। कुरवः=कुरूणां निवासा देशविशेषाः। अकृष्टपच्याः=अकर्षणसिद्धाः इव, कृष्टेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः, न कृष्टपच्याः अकृष्टपच्याः इव। कृषीवलैः=कृषकैः, 'क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषकश्च कृषीवलः' इत्यमरः। सुखेन लभ्या=अक्लेशेन लब्धुं शक्याः। सस्यसम्पदः दधतः=सस्यराजी धारयन्तः। 'वृक्षादीनां फलं सस्यम्' इत्यमरः। चकासति=शोभन्ते। दुर्योधनस्य प्रजा अनायासेनैव जातानि सस्यानि लेभिरे।

भावार्थ—दीर्घकाल से दुर्योधन के प्रजा-क्षेम का विस्तार करने से वृष्टि के ऊपर आश्रित न रहनेवाला कुरुदेश मानों बिना जुताई के ही पकी हुई, कृषकों द्वारा सरलता से प्राप्त फसलों को धारण करता हुआ शोभित हो रहा है।

टिप्पणी—(१) अदेवमातृका से तात्पर्य यह है कि वह देश खेतों की सिंचाई के लिए नदियों पर आश्रित है, देव पर—वृष्टि पर नहीं। (२) 'अकृष्टपच्या इव' में उत्प्रेक्षा है। 'सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा'॥ १७॥

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ १८ ॥

अन्वयः—उदारकीर्तेः दयावतः अभिरक्षया प्रशान्तबाधम् उदयं दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वयं प्रदुग्धे ।

भावार्थ—यशस्वी एवं दयावान् सुयोधन के गुणों से प्रसन्न होकर मानों पृथ्वी अपने आप सभी धनों को उत्पन्न कर रही है । इस पद्य में सुयोधन द्वारा रक्षित राज्य में प्राकृतिक साधनों से प्रजा की समृद्धि का वर्णन किया गया है ।

पदव्याख्या—उदारकीर्तेः=महान् यशस्वी । उदार=विस्तृत महान् । उदारा कीर्तिः यस्य सः (बहुव्रीहि), षष्ठी एकवचन ('अस्य' का विशेषण) । उदार=उद्+ऋ+घञ् प्रत्यय (भावे) । कीर्तिः=कॄत्+क्तिन् प्रत्यय । दयावतः दयालु के ('अस्य' का विशेषण) । दया अस्ति अस्य इति दयावान्, तस्य दयावतः । दया+मतुप् प्रत्यय । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' से 'म' के स्थान पर व हो जाता है । उदयम् वृद्धिः, उन्नति उद्+इ से भावार्थक अच् प्रत्यय । प्रशान्तबाधम्=पूर्णतः बाधाहीन, जिसमें बाधा पूरी तरह से शान्त हो गयी है (उदयम् का विशेषण) । प्रशान्ता बाधा यथा स्यात्तथा (अव्ययीभाव) अथवा प्रशान्ता बाधा यस्मिन् (बहुव्रीहि), अथवा प्रशान्ता बाधा यस्य सः प्रशान्तबाधः, तम् (बहुव्रीहि) । दिशतः=सम्पादित करते हुए (उसका, 'अस्य' का विशेषण), दिश्+शतृ प्रत्यय, षष्ठी एकवचन । उदयं दिशतः=उन्नति करते हुए । अभिरक्षया=चारों ओर से रक्षा के द्वारा, सबकी रक्षा के द्वारा, अभि+रक्ष्+अ प्रत्यय+टाप् (स्त्री प्रत्यय) तृतीया एकवचन । स्वयं प्रदुग्धे=अपने आप दूध देती है अर्थात् अपने आप ही उत्पन्न करती है, प्र+दुह=लट् लकार, कर्मकर्तरि । 'दुहिपच्योर्बहुलसकर्मकयोरिति वाच्यम्' वार्तिक से दुह् यहाँ सकर्मक क्रिया है, इसका कर्म है 'वसूनि' तथा कर्ता 'मेदिनी' । अस्य गुणैः उपस्नुता=इसके गुणों से पेन्हाई जाकर द्रवीभूत होकर (यहाँ पृथ्वी को एक गाय जैसा वर्णित किया है, बछड़े के छोड़ने पर गाय 'पेहाती' है और दूध देती है । सुयोधन के गुणों से पृथ्वी रूपी गाय द्रवीभूत होकर धन रूपी दुग्ध देती है) । उप+स्नु+क्त+टाप् । वसूपमानस्य=कुबेर जैसे इस सुयोधन के । (अस्य का विशेषण), वसुः उपमानम् अस्येति वसूपमानः (बहुव्रीहि) । वसूनि=धनों को 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । मेदिनी=पृथ्वी ।

संस्कृतव्याख्या—उदारकीर्तेः=महायशसः, 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः ।

उदारा कीर्तिः यस्य सः उदारकीर्तिः, तस्य। दयावतः=दयान्वितस्य। अभिरक्षया=सर्वथा रक्षणेन, अभितः रक्षा अभिरक्षा, तया, प्रशान्तबाधम् उदयम्= निरुपद्रवामुन्नतिम्। प्रशान्ता बाधा यथा स्यात्तथा, अथवा प्रशान्ता बाधा यस्मिन्। दिशतः=विधातुः, सम्पादयतः, वसूपमानस्य=कुबेरोपमस्य, अस्य= दुर्योधनस्य। गुणैः=दयादाक्षिण्यादिभिः, उपस्नुता=द्रविता। मेदिनी=पृथ्वी, वसुन्धरा। वसूनि=धनानि 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। स्वयं प्रदुग्धे= स्वयमेव दुह्यते। अत्र समासोक्तिः। विशेदणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः सर्वस्वकारः। अतिशयोक्त्यलङ्कारः।

भावार्थ—महायशस्वी दयालु एवं चारों ओर से सुरक्षा द्वारा निर्बाध उन्नति करनेवाले कुबेर सदृश इस (सुयोधन) के गुणों से द्रवित पृथ्वी (एक गौ की तरह) स्वयं धनों को उत्पन्न करती है।

टिप्पणी—(१) यहाँ पृथ्वी को एक गौ के रूप में वर्णित किया गया है, जो सुयोधन के गुणों से द्रवित होकर (पिन्हाई जाकर) धन रूपी दूध दे रही है। (२) यहाँ समासोक्ति अलंकार है। 'समासोक्तिः परिस्फूर्ति प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्' जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त के वर्णन से अप्रस्तुत की प्रतीति हो। यहाँ अप्रस्तुत गौ की प्रतीति हो रही है। (३) भेदकातिशयोक्ति भी है—भेद होते हुए भी अभेद का वर्णन। 'भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्' ॥ १८॥

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥ १९॥

अन्वयः—महौजसः मानधनाः धनार्चिताः संयति लब्धकीर्तयः न संहताः, न भिन्नवृत्तयः धनुर्भृतः असुभिः तस्य प्रियाणि समीहितुं वाञ्छन्ति।

भावार्थ—इस पद्य से यह बताया गया है कि वीर सैनिक यशस्वी सुयोधन की रक्षा में प्राणों का मोह छोड़कर लगे हैं, वे सभी अनुकूल हैं। सैनिकों के गुणों का भी वर्णन है।

पदव्याख्या—महौजसः=अत्यन्त बलशाली पराक्रमी (धनुर्भृतः का विशेषण), महत् ओजः येषां ते (बहुव्रीहि)। मानधनाः=मनस्वी, मानी, मान ही जिनका धन है, मान एव धनं येषां ते (बहुव्रीहि), मान=मन्+घञ्प्रत्यय (भावे)। ('धनुर्भृतः' का विशेषण)। धनार्चिताः=धन से सत्कृत। धन देकर जिनका सत्कार किया गया है। धनेन अर्चिताः ('धनुर्भृतः' का विशेषण)। अर्च+णिच्+क्त प्रत्यय। संयति लब्धकीर्तयः=युद्ध में कीर्ति प्राप्त कर चुकने

वाले, जिन्होंने पहले युद्ध में यश प्राप्त किया है अर्थात् प्रख्यात योद्धा। संयति= युद्ध में, सम्+यम्+क्विप् प्रत्यय, संयत्, तस्मिन्। लब्धा कीर्त्तिः यैस्ते लब्धकीर्तयः, बहुव्रीहिसमास (धनुर्भृतः का विशेषण)। 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' अमरकोश। नसंहताः=गुटबन्दी न करनेवाले, स्वार्थवश आपस में न मिलने वाले, न संहताः नसंहताः (सुप्सुपा समास), संहताः=सम+हन्+क्त प्रत्यय कर्तरि। (धनुर्भृतः का विशेषण)। नभिन्नवृत्तय =विरोधी आचरण न करने वाले। भिन्नाः वृत्तयः येषां ते भिन्नवृत्तयः (धनुर्भृतः का विशेषण), भिद्+क्त=भिन्न+टाप्। वृत्+क्तिन् भावे, वृत्तिः। न भिन्नवृत्तयः नभिन्नवृत्तयः (सुप्सुपा समास)। धनुर्भृतः=धनुष धारण करनेवाले वीर, योद्धा सैनिक। धनूंषि बिभ्रति इति धनुर्भृतः (प्रथमा बहुवचन वाञ्छन्ति का कर्ता)। भृत्= भृ+क्विप् (कर्तरि)। अगले पद्य में 'महीभृत्'। तस्य प्रियाणि=उसके प्रियकर्म, दुर्योधन के प्रियकर्म। असुभिः समीहितुं वाञ्छन्ति=प्राणों से करना चाहते हैं—सम्+ईह+तुमुन्। वाञ्छन्ति=वाञ्छ्+लट् लकार, बहुवचन। अस्यन्ते इति, अस्+उ (उन् उणादि) 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाश्चैव जीवोऽसुधारणम्' अमरकोशः।

संस्कृतव्याख्या—महौजसः=महाबलाः, महद् ओजो येषां ते, 'ओजो दीप्तौ बले स्रोत इन्द्रिये निम्नगारये' इत्यमरः। मानधनाः=मनस्विनः, मानः एव धन येषां ते। धनार्चिताः=धनैः सत्कृताः। संयति लब्धकीर्तयः=युद्धे प्राप्तयशसः, नसंहताः=मिथः स्वार्थसिद्धयै न सङ्गताः, (सुप्सुपेति समासः)। नभिन्नवृत्तयः=न पृथग्व्यापाराः अविरुद्धाः, मिथः विरोधात्स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति। धनुर्भृतः=धानुष्काः भटाः, असुभिः=प्राणैः, 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणश्चैवं जीवोऽसुधारणम्' इत्यमरः। तस्य प्रियाणि—दुर्योधनस्य प्रियकार्याणि, समीहितुम्=कर्तुम्, विधातुम्। वाञ्छन्ति=इच्छन्ति। अस्मिन्पद्ये धीरभटानामानुकूल्यमाह।

भावार्थ—अत्यन्त बलशाली, मनस्वी, धनदान द्वारा सन्तुष्ट, युद्ध में प्रख्यात धनुर्धारी योद्धा, जो परस्पर स्वार्थवश मिले हुए नहीं हैं और न परस्पर विरोधी कार्य करते हैं, प्राणों से उस सुयोधन के प्रिय कार्य करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

टिप्पणी—(१) हेतु का अभिधान होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है। समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्। (२) परिकर अलंकार भी है।

उसका लक्षण है—जब विशेषण साभिप्राय होता है तो परिकर अलंकार होता है। 'अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे'। दोनों अलंकारों के एक साथ होने से संसृष्टि अलंकार है ॥ १९ ॥

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥ २० ॥

अन्वयः—अशेषितक्रियः सः सच्चरितैः चरैः महीभृतां क्रियाः निःशेषं वेद। धातुः इव तस्य ईहितं महोदयैः हितानुबन्धिभिः फलैः प्रतीयते।

भावार्थ—सुयोधन अपने अधीन राजाओं के आचरण के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता है और उसकी योजनाओं में इतनी गोपनीयता होती है कि उनके क्रियान्वित होने पर ही लोगों को पता चलता है।

पदव्याख्या—महीभृताम्=राजाओं की (क्रिया) महीं बिभ्रतीति महीभृतः, तेषां महीभृताम्, मही+भृ+क्विप् कर्तरि (उपपद तत्पुरुष)। सच्चरितैः चरैः—उत्तम चरित्रवाले गुप्तचरों के द्वारा। सत् चरितं येषां ते सच्चरिताः, तैः (बहुव्रीहि)। सत्+अस्+शतृ। चरितम्—चर+क्त (भावे)। क्रियाः= कार्य, व्यवहार, यहाँ नीति से तात्पर्य है, महीभृतां क्रियाः=अपने अधीन राजाओं की नीति व्यवहार, द्वितीया बहुवचन। अशेषितक्रियः=सभी कार्यों को पूरा करनेवाला वह सुयोधन (सः का विशेषण), न शेषिताः अशेषिताः, अशेषिताः क्रियाः येन सः अशेषितक्रियः (नञ् तथा बहुव्रीहि)। शेषित—शेषयति से भूतकालीन क्त, शेषयति का अर्थ है 'शेषं करोति'। शिष्+णिच्+क्त। सः निःशेषं वेद=वह सम्पूर्ण रूप में जानता है, पूरा-पूरा जानता है। निर्गतः शेषं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा, जिसमें कुछ भी शेष नहीं रह गया है, अर्थात् पूर्णरूप से। शेषः—शिष्+घञ्। वेद—विद्+लट्, 'विदो लटो वा' सूत्र से, 'ति' के स्थान पर णल्—अ हो गया। महोदयैः=उत्तम परिणाम वाले महत्त्वपूर्ण परिणामवाले, महान् उन्नति प्रदान करनेवाले (फलैः का विशेषण), महान् उदयो येषां, येभ्यः वा (बहुव्रीहि)। तैः उदयः—उद्+इ+अच् (भावार्थक)। हितानुबन्धिभिः=कल्याण करनेवाले, हित करनेवाले (फलैः का विशेषण) हितमनुबध्नन्तीति हितानुबन्धिनः, तैः (उपपद तत्पुरुष), अनु+बन्ध्+णिनि। फलैः=फलों के द्वारा, परिणामों से। तस्य ईहितम्=उसका अभीष्ट, मन्तव्य, ईह्+क्त, चाहा हुआ। धातुः इव=स्रष्टा की (इच्छा की) तरह, 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः' अमर-

कोशः । प्रतीयते=जाना जाता है, प्रति+इ+लट् लकार। अर्थात् सुयोधन क्या कार्य करना चाहता था, वह कार्य हो जाने पर उसके लोकोपकारी परिणाम से ही पता चलता है।

संस्कृतव्याख्या—अशेषितक्रियः=समाप्तक्रियः, न शेषिताः अशेषिताः, अशेषिता क्रिया येन सः अशेषितक्रियः (नञ् तत्पुरुष)। सः=सुयोधनः। सच्चरितैः चरैः=सत्यशीलैः गुप्तचरैः, चरन्तीति चरास्तैश्चरैः। महीभृतां क्रियाम्=अधीनस्थानां राज्ञां व्यवहारं नीतिं वा। निःशेषम्=सम्पूर्णम्। निर्गतः शेषो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। वेद=जानाति। धातु इव=ईश्वरस्य इव, विधातु इव, "स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः" इत्यमरः। तस्य= सुयोधनस्य। ईहितम्=अभिलषितम्, चेष्टितम्। महोदयैः=महावृद्धिभिः, महान् उदयो येषां येषु येभ्यः वा। हितानुबन्धिभिः=स्वान्तैः, हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धन्तीति, तैः हितानुबन्धिभिः। फलैः=परिणामैः, कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते=ज्ञायते।

भाषार्थ—सभी कार्यों को पूरी तरह समाप्त करके वह सुयोधन उत्तम चरित्रवाले (प्रलोभन में न आनेवाले) गुप्तचरों के द्वारा (अधीन) राजाओं के सभी व्यवहारों को सम्पूर्ण रूप से जानता है। विधाता की इच्छा की तरह उसकी योजना अत्यन्त समृद्धिवाले एवं कल्याणकारी परिणामों के द्वारा ही जानी जाती है ॥ २० ॥

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम्। आननं वा कोपविजिह्मं न कृतम्। नराधिपैः अस्य शासनं गुणानुरागेण माल्यम् इव शिरोभिः उह्यते।

भावार्थ—इस पद्य में दुर्योधन के प्रति अन्य अधीन राजाओं की आज्ञाकारिता का वर्णन किया गया है। उसे कभी धनुष उठाने या क्रोध करने की जरूरत नहीं पड़ती, प्रत्युत राजागण उसके गुणों से प्रभावित होकर अनुराग एवं नम्रता से उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं।

पदव्याख्या—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम्=उसके द्वारा कहीं धनुष की डोरी चढ़ाकर नहीं उठाया गया, अर्थात् उसे कहीं (विरोधियों का) दमन करने के लिये शस्त्र-धारण की आवश्यकता नहीं है। सज्यम्=ज्यया सहेति सज्यम्। ज्या=डोरी, 'वोपसर्जनस्य' में 'सह' के स्थान पर 'स' हो गया। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। उद्यतम्=उठाया गया, उद्+यम+

क्त प्रत्यय कर्मणि। आननं वा कोपविजिह्मं न कृतम्=मुख भी कभी क्रोध से कुटिल नहीं किया गया, किसी पर क्रोध से भौंहें टेढ़ी कर देखने का भी अवसर नहीं आया। आननम्=मुखम् 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः। कोपविजिह्मम्=क्रोध से कुटिल। विशेषेण जिह्मं विजिह्मम् (प्रादि तत्पुरुष), कोपेन विजिह्मं कोपविजिह्मम् (तृतीया तत्पुरुष), कुप+घञ्=कोपः। कृ+क्त=कृतम्। "अरालं वृजिनं जिह्ममूर्मिमत्कुञ्चितं नतम्" अमरकोश। गुणानुरागेण=गुणों के अनुराग से, दया-दान आदि गुणों से प्रभावित होने के कारण। गुणेषु अनुरागः गुणानुरागः, तेन, 'हेतौ तृतीया' हेतु अर्थ में तृतीया। शिरोभिः उह्यते=सिरों से ढोया जाता है, शिरोधार्य किया जाता है, पालन किया जाता है। वह+लट् (कर्मणि)। नराधिपैः=राजाओं के द्वारा, अधीनस्थ करद राजाओं के द्वारा, नराणाम् अधिपाः नराधिपाः, तैः। अधि+पा+क प्रत्यय। माल्यम् इव=माला की तरह। माला+ष्यञ् प्रत्यय (स्वार्थे), माला एव माल्यम्। 'माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि केशमध्ये तु गर्भकः' इत्यमरः। अस्य शासनम्=इस सुयोधन का आदेश। शास्+ल्युट्।

संस्कृतव्याख्या—तेन=सुयोधनेन, क्वचित्=कुत्रापि। सज्यम्=आरोपितमौर्वीकम्। ज्यया सहेति सज्यम्। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। न उद्यतम्=नोर्ध्वीकृतम्। आननं वा=मुखं वा। कोपविजिह्मं न कृतम्=क्रोधेन कुटिलं न कृतम्, क्रोधो न कृत इत्यर्थः। कोपेन विजिह्मं कोपविजिह्मम्, विशेषेण जिह्मं विजिह्मम्। 'अरालं वृजिनं जिह्ममूर्मिमत्कुञ्चितं नतम्' इत्यमरः। नराधिपैः=करदभूपैः, नराणाम् अधिपाः नराधिपाः, तैः। अस्य शासनम्=सुयोधनस्यादेशः। गुणानुरागेण=दयादाक्षिण्यादिस्नेहेन। माल्यम् इव=स्रगिव, मालेव, शिरोभिः=शीर्षैः, उह्यते=धार्यते। अत्र स्फुटालङ्कारः।

भावार्थ—उसने कभी डोरी चढ़ाकर धनुष को नहीं उठाया, और न ही कभी क्रोध से मुख ही कुटिल किया। (फिर भी) अधीनस्थ राजा लोग इसके आदेश को इसके गुणों में प्रेम होने से माला की तरह शिर पर धारण करते हैं (अर्थात् शिरोधार्य करते हैं)।

टिप्पणी—इस पद्य में स्फुटालंकार है ॥ २१ ॥

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—इद्धशासनः सः नवयौवनोद्धतं दुःशासनं यौवराज्ये निधाय पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः मखेषु हव्ये हिरण्यरेतसं धिनोति।

भावार्थ—इस पद्य में सुयोधन के धर्माचरण का वर्णन किया गया है। वह दुःशासन को युवराज नियुक्त करके पुरोहितों के आदेशानुसार यज्ञ करने में लगा है।

पदव्याख्या—सः=वह सुयोधन ('धिनोति' का कर्ता)। यौवराज्ये=युवराज के पद पर। युवराज+ष्यञ्। युवा चासौ राजा च युवराजः (कर्मधारय), युवराजस्य कर्म यौवराज्यम्। "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" से ष्यञ् प्रत्यय। "जनको युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः"। नवयौवनोद्धतम्=नई युवावस्था के कारण प्रगल्भ। नवं यौवनं नवयौवनम्, तेन उद्धतं नवयौवनोद्धतम् (दुःशासनम् का विशेषण)। युवन्+अण्=यौवनम्। उद्+हन्+क्त=उद्धतम् (कर्तरि)। दुःशासनं निधाय=दुःशासन को रखकर। दुर्+शास्+युच् (कर्मणि), तम्। निधाय=नि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। दुःखेन शास्यते इति। इद्धशासनः=जिसकी आज्ञा का कोई विरोध न करे। (सः सुयोधन का विशेषण) इद्धं शासनं यस्य सः (बहुव्रीहि), इन्ध+क्त (कर्तरि), शास्+ल्युट् (भावे)=शासनम्। मखेषु=यज्ञों में।। "यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः।" इत्यमरः। मखन्ति देवा अत्र, अनेन वा, मख=जाना। अखिन्नः=बिना आलस्य के, तत्परता से। न खिन्नः अखिन्नः (नञ्तत्पुरुष), खिद+क्त। पुरोधसा अनुमतः=पुरोहित से आदेश पाया हुआ, पुरोहित का आदेश पाकर, अनु+मन्+क्त। 'पुरोधास्तु पुरोहितः' अमरकोश। हव्येन हिरण्यरेतसम्=अग्नि को। हिरण्यं रेतो यस्य सः हिरण्यरेताः, तम्। स्वर्ण जिस का सार है। सोने को अग्नि से उत्पन्न माना जाता है। धिनोति=प्रसन्न करता है 'धि' या 'धिन्व' का अर्थ होता है प्रसन्न करना, धिन्व+लट् लकार। हव्यम्=हूयन्ते देवा अनेन इति हव्यम्, हु+यत् 'अचो यत्' से।

संस्कृतव्याख्या—इद्धशासनः सः=अप्रतिहताज्ञः सुयोधनः, उग्रशासनः सः, इद्धं शासनं यस्य सः। नवयौवनोद्धतम्=नवतारुण्यप्रगल्भम्। नवं यौवनं नवयौवनम्, तेन उद्धतम्। दुःशासनम्=एतन्नामानमनुजम्। यौवराज्ये निधाय=युवराजकर्मणि नियुज्य, युवराजाधिकारे निदेश्य, 'जनको युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः' इत्यमरः। पुरोधसा अनुमतः=पुरोहितेनादिष्टः सन्, अनुज्ञातः, 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः। अखिन्नः=अस्ततन्द्री, अनलसः, न खिन्नः अखिन्नः, मखेषु=यज्ञेषु, मखन्ति देवा अत्र, अनेन वा, 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः

सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः । हव्येन=हविषा, हूयन्ते देवा अनेन इति हव्य
हिरण्यरेतसम्=अनलम्, अग्निम्, हिरण्यं रेतो यस्य सः, तम् । धिनोति=
प्रीणयति । 'धिन्विकृण्व्योर च' इत्युप्रत्ययः ।

भावार्थ—वह (सुयोधन), जिसकी प्रबल आज्ञा का तत्काल पाल
किया जाता है, नयी युवावस्था से प्रगल्भ दुःशासन को युवराज पद पर नियु
करके पुरोहित के आदेश से यज्ञों में हवि द्वारा अग्नि को प्रसन्न करता है ।

टिप्पणी—(१) 'दुःशासनमिद्धशासनम्' में अनुप्रास अलंकार है । 'व
साम्यमनुप्रासः'—मम्मट । (२) 'उद्धत' से यहाँ उद्दण्ड या अविनीत का अ
लेना अप्रासंगिक होगा ॥ २२ ॥

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३ ॥

अन्वयः—प्रलीनभूपालं स्थिरायतीः भुवः मण्डलम् आवारिधि प्रशास
अपि सः त्वत् एष्यतीः भियः चिन्तयति एव । अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता ।

भावार्थ—इस पद्य में सभी प्रकार से निर्विघ्न पृथ्वी का शासन करनेवा
सुयोधन को युधिष्ठिर से संभावित पराजय की आशंका से भयभीत वर्णित कि
गया है । इस पद्य का भाव ७वें पद्य के अर्थ से मिलता-जुलता है ।

पदव्याख्या—प्रलीनभूपालम्=राजाओं से नितान्त विहीन, विपक्षी राजा
से शून्य (भूमण्डलम् का विशेषण), भुवं पालयन्तीति भूपालाः, प्रलीना भूपा
यस्मिंस्तत् प्रलीनभूपालम्, तम् (बहुव्रीहि), प्रलीन=प्र+ली+क्त (कर्तरि
भूपालाः=भू+पाल+णिच्+अण् (कर्तरि) । स्थिरायति=स्थायी, जिनक
भविष्यकाल स्थिर हो (मण्डल का विशेषण), स्थिरा आयतिः यस्य तत्
आयतिः=भविष्यत्काल, भावी अवस्था, आ+यम्+ति । आवारिधि प्रशा
सद् अपि=सागरपर्यन्त शासन करते हुए भी । आवारिधि—वारिधिभ्य
आ इति आवारिधि (अव्ययीभाव), वारि धीयतेऽस्मिन्निति वारिधिः
वारि+धा+कि प्रत्यय । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' से अव्ययीभाव । प्रशास
अपि=प्र+शास्+शतृ । प्रथमा एकवचन । 'उदधिः वारिधिः सिन्धुः ।' भुव
मण्डलम्=पृथ्वी के मण्डल को । प्रलीनभूपालं स्थिरायति भुवः मण्डल
आवारिधि प्रशासद् अपि=पृथ्वी के मण्डल पर, जिस पर कोई प्रतिपक्ष
राजा नहीं रह गया है और जो भविष्य में भी उसके अधीन रहेगा, साग

पर्यन्त शासन करते हुए भी। सः त्वत् एष्यतीः भियः चिन्तयति एव=वह आप से उत्पन्न होनेवाले भय का चिन्तन करता ही है। त्वदेष्यतीः=त्वत्+एष्यतीः। एष्यतीः=इ+शतृ, भविष्यत्कालीन शतृ प्रत्यय, स्त्रीलिंग द्वितीया बहुवचन (भियः का विशेषण), ङीप् प्रत्यय, आप से प्राप्त होनेवाले। मल्लिनाथ के अनुसार, आपसे आनेवाले=आगमिष्यतीः। भियः=भयों को। 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्'—अमरकोश। चिन्तयति=चिन्त्+णिच्+लट् लकार। अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता=बलवानों के साथ विरोध का परिणाम दुःखमय होता है। बलवता विरोधिता बलवद्विरोधिता, बलमस्यास्तीति बलवान्। बल+मतुप्। विरोधिनः भावः विरोधिता=विरोधिन्+तल्+टाप् (स्त्री प्रत्यय)। वि+रुध्+णिनि=विरोधिन्। दुरन्ता=दुः अन्तः यस्याः सा दुरन्ता (बहुव्रीहि)।

संस्कृतव्याख्या—प्रलीनभूपालम्=निःसपत्नम्, निष्कण्टकम्, प्रलीनाः भूपालाः यस्मिंस्तत् प्रलीनभूपालम्, तम्। स्थिरायति=चिरस्थायि, स्थिरा आयतिः (उत्तरकालावस्था) यस्य तत्। 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः। भुवः मण्डलम्=पृथिव्याः वलयम्, 'मण्डलं वलयं समम्' इति कोषः। आवारिधिः प्रशासत्=आसमुद्रम् आज्ञापयन्नपि। आ वारिधिभ्य इति आवारिधिः। सः=सुयोधनः, त्वत् एष्यतीः=त्वदागमिष्यतीः, गमिष्यतीः वा, भियः=विपदः, चिन्तयति एव=आलोचयत्येव। न निश्चिन्तोऽस्तीत्यर्थः। अहो बलवद्विरोधिता=प्रबलैः सह वैरायमाणत्वम्, बलवता विरोधिता, दुरन्ता=दुष्टावसाना, दुःख-परिणामा भवति। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः।

भावार्थ—प्रतिद्वन्द्वी राजाओं से पूर्णतः शून्य एवं भविष्य में स्थायी रहने वाले पृथ्वीमण्डल का समुद्रपर्यन्त शासन करता हुआ भी वह (सुयोधन) आप से आनेवाली विपत्ति का विचार करता ही है। ओह, बलवानों के साथ विरोध का परिणाम दुःखमय होता है।

टिप्पणी—(१) यह 'अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता' सामान्य कथन से इसके पूर्ववर्ती विशेष कथन का समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यासा-लङ्कार है। 'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोः'—अप्पयदीक्षित। (२) 'अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता' किरातार्जुनीयम् की अनेक सूक्तियों में एक है। (३) इस पद्य के अर्थ से मिलता-जुलता अर्थ वाला पद्य है इसी सर्ग का ७वाँ 'विशङ्कमानः' आदि ॥ २३ ॥

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥ २४ ॥

अन्वयः—कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् दुःसहात् तवाभिधानात् अनुस्मृ[ताखण्डलसूनुविक्रमः स (कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् दुःसहात् तव अभिधाना]त् मन्त्रपदात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः उरगः इव नताननः (सन्) व्यथते।

भावार्थ—सूयोधन युधिष्ठिर से भयभीत है, इसका लक्षण बताते हुए वनेच[र] कहता है कि लोगों के मुख से कथाप्रसंग में आपका नाम सुनकर तथा अर्जु[न] के पराक्रम को याद कर वह मन्त्र के प्रभाव में पड़े हुये सर्प की भाँति चिन्[ता] से सिर झुका लेता है।

पदव्याख्या—इस पद्य में श्लेष है अतः कई शब्दों के दो अर्थ होंगे, ए[क] सुयोधन के पक्ष में, दूसरा सर्प के पक्ष में। कथाप्रसंगेन=विचारगोष्ठी में, बात[ची]त में, कथायाः प्रसङ्गः कथाप्रसङ्गः, तेन (षष्ठी तत्पुरुष), मल्लिनाथ ने इ[स] समास को बहुव्रीहि माना है। कथायां प्रसङ्ग यस्य कथाप्रसङ्गः, तेन, और इ[से] 'जनैः' का विशेषण माना है 'एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम्'। कथाप्रस[ङ्ग] +इ 'ाः करके भी व्याख्या संभव है। इनाः का अर्थ है दक्ष। जनैः=लो[गों] द्वारा, वहाँ एकत्र जनों द्वारा। उदाहृतात्=कहे जाने से, उच्चारित (तवा[भि]धानात्' का विशेषण), उद्+आ+हृ+क्त (कर्मणि), तस्मात्। अनुस्मृता[ख]ण्डलसूनुविक्रमः=इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम को याद करनेवाला। आखण्डल =इन्द्रः, 'आखण्डलः सहस्राक्ष ऋभुक्षास्तस्य तु प्रिया' अमरकोश। सूनुः= पुत्र या अनुज। "सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ" इति विश्वः। आखण्डलस्य सू[नुः] आखण्डलसूनुः, तस्य विक्रमः आखण्डलसूनुविक्रमः, अनुस्मृतः आखण्डलसू[नु]विक्रमः येन सः (बहुव्रीहि, 'सः' का विशेषण)। विक्रम=वि+क्रम+घ[ञ्] (भावे)। अनुस्मृतः=अनु+स्मृ+क्त। तवाभिधानात्=तव अभिधानात् आपके नाम से। अभिधानम्=अभि+धा+ल्युट् (करणे)। नताननः=मु[ख] नीचा करके, नतम् आननं यस्य सः (बहुव्रीहि, 'सः' का विशेषण)। नत[म्] =नम्+क्त (कर्तरि)। व्यथते=कष्ट पाता है, दुःखी होता है, व्यथ्+लट् लकार। दुःसहात् मन्त्रपदात्=दुःसह मन्त्र के शब्द से। दुःखेन सह्यते इ[ति] दुःसहः। दुर्+सह=खल् (कर्मणि), तस्मात्। मन्त्रस्य पदं मन्त्रपद[म्], तस्मात् (उरग, सर्प के लिए)। सर्प के पक्ष में इन पदों का विग्रह तथा अ[र्थ] इस प्रकार होगा। कथाप्रसङ्गेन जनैः=कथाप्रसङ्गों में दक्ष लोगों द्वारा, कथा-

प्रसङ्ग=विषवैद्य, विष उतारनेवाले। "कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्" इति विश्वः। अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः=इन्द्र के अनुज विष्णु के पक्षी की उड़ान को याद करके, आखण्डलसूनुः=आखण्डल अर्थात् इन्द्र के अनुज (सूनु का दोनों अर्थ होते हैं, पुत्र और छोटा भाई), वि=पक्षी, क्रमः=चलना, उड़ान। आखण्डलस्य सूनुः (अनुजः) आखण्डलसूनुः, तस्य विः, आखण्डलसूनुविः, तस्य क्रमः आखण्डलसूनुविक्रमः, अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः। (उरगः) तवाभिधानात्=जिसमें तार्क्ष्य और वासुकि का उच्चारण है (मन्त्रपदात् का विशेषण), त=तार्क्ष्य, व=वासुकि। तश्च वश्च तवौ, तवयोः अभिधानं यस्मिंस्तत् तवाभिधानम्, तस्मात्। उरगः इव=सर्प की तरह। उरसा गच्छति इति, उरस्+गम्+डः। 'उरसो लोपश्च' से 'स्' का लोप। 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' अमरकोशः।

संस्कृतव्याख्या—कथाप्रसङ्गेन=वार्तानुक्रमेण, जनैः=तत्रस्थैः राजपुरुषैः, उदाहृतात्=उच्चारितात् दुःसहात्, तवाभिधानात्=अतिदुःश्राव्यात् भवतः नाम्नः। दुःखेन सह्यते इति दुःसहः, तस्मात्। अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः=स्मृतार्जुनपराक्रमः, आखण्डलस्य सूनुः आखण्डलसूनुः, तस्य विक्रमः, अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः। कथाप्रसङ्गेन जनैः=विषवैद्यप्रवरलोकैः, कथायाः प्रसङ्गः यस्य सः कथाप्रसङ्गः, विषवैद्यः 'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः। कथाप्रसङ्गेषु इनाः कथाप्रसंगेनाः जनाः, तैः। उदाहृतात्=उच्चारितात्, दुःसहात्=दुःश्राव्यात्, तवाभिधानात्=तार्क्ष्यवासुकिनामकथनात्, तश्च वश्च तवौ, तवयोः अभिधानं यस्मिंस्तत् तवाभिधानम्, तस्मात्। मन्त्रपदात्=विषदूरीकरणमन्त्रविशेषात्। अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः=स्मृतविष्णुपक्षिपदवेगः, आखण्डलस्य सूनुः (अनुजः) आखण्डलसूनुः, तस्य विः (पक्षी) आखण्डलसूनुविः, तस्य क्रमः आखण्डलसूनुविक्रमः, अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः, 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः। उरग इव=सर्प इव, 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' इत्यमरः। नताननः सन्=नम्रमुखः सन्। व्यथते=दुःखायते। अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थ—वार्तालाप के बीच लोगों द्वारा उच्चारित, सुनने में कष्टप्रद लगनेवाले आपके नाम से इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम को स्मरण कर वह विष दूर करने में प्रवीण विषवैद्यों द्वारा कहे गए सुनने में कठोर तथा तार्क्ष्य एवं वासुकि के नाम से युक्त मन्त्रों से विष्णु के पक्षी गरुड़ के वेग को स्मरण करनेवाले सर्प की तरह सिर को झुकाकर कष्ट का अनुभव करता है।

टिप्पणी—यहाँ श्लेषालंकार है 'कथाप्रसंगेन जनैः' 'तवाभिधानात्' 'मनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः' पद श्लिष्ट हैं। इनके एक अर्थ दुर्योधन के पक्ष में तथा दूसरे अर्थ उरग के पक्ष में होंगे ॥ २४ ॥

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥ २५ ॥

अन्वयः—तत् त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते, तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम्। परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां मादृशां गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु।

भावार्थ—अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हुए अन्त में वनेचर दूत युधिष्ठिर से कहता है कि वह आपके प्रति छल करने में लगा है, उसका प्रतीकार कीजिए। मुझ जैसों के वचन दूसरों की बातों से केवल तथ्य का प्रतिपादन करनेवाले होते हैं। निश्चित रूप से जैसी स्थिति है, वैसी मैंने बतला दी।

पदव्याख्या—तत्=तो। आशु=शीघ्र (विधीयताम् के साथ अन्वय), त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते=आप पर कुटिलता करने के लिए उद्यत उस पर, जिह्म =कपट, छल, हा+मन्— से संज्ञा पद। आठवें श्लोक में 'तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया'। कृ+तुमुन्, कर्तुम्। उद्यते=सप्तमी एकवचन। उद्+यम्+क्त (कर्तरि)। तत्र विधेयम् उत्तरं विधीयताम्=उस पर या उसके प्रति किये जाने योग्य अगला कार्य कीजिए, प्रतीकार कीजिए। वि+धा+यत् (कर्मणि)=विधेयम्। वि+धा+लोट्, विधीयताम्। उत्+तरप् अथवा उद्+तॄ+अप्=उत्तरम्। उत्तरम् का अर्थ प्रतीकार भी हो सकता है। परप्रणीतानि वचांसि चिन्वताम्=दूसरों द्वारा कहे गये वचनों को जुटाने वाले, एकत्र करनेवाले (षष्ठी बहुवचन 'मादृशाम्' का विशेषण)। परैः प्रणीतानि परप्रणीतानि। चिन्वताम्=चि=शतृ (षष्ठी बहुवचन)। मादृशां गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु=मुझ जैसे (दूतों) के वचन यथार्थ वार्ता से ही युक्त होते हैं। प्रवृत्तिः सारः यासां ताः (बहुव्रीहि), प्र+वृत्+क्तिन् (भावे)। सारः =सृ+घञ्+सारः। मादृशाम्=अहमिव दृश्यन्ते ते मादृशः। अथवा मामिव पश्यन्ति यान् ते। प्रवृत्तिसाराः=वार्ताकथनमेव सारो यासाम्।

संस्कृतव्याख्या—तत्=तस्मात्, त्वयि=भवति, 'जिह्मम्=कपटम्, कर्तुम्=विधातुम्, 'जिह्मस्तु कुटिलेऽलसे' इत्यमरः। उद्यते=प्रवृत्ते, तत्र=तस्मिन् दुर्योधने। विधेयम्=कर्त्तव्यम्, उत्तरम्=प्रतीकारम्, प्रतिक्रिया वा,

आशु विधीयताम्=शीघ्रं क्रियताम् । परप्रणीतानि=परोक्तानि, वचांसि चिन्वताम्=वाक्यानि गवेषयताम्, मादृशाम्=वनेचराणाम्, दूतानाम्, अहमिव दृश्यन्ते ते मादृशः, माम् इव पश्यन्ति ते । गिरः=वाचः । प्रवृत्तिसाराः=वार्तामात्रसाराः खलु । प्रवृत्तिः सारः येषां ताः ।

भावार्थ—इस कारण आपके प्रति कपट करने में लगे हुए उस दुर्योधन के प्रति जैसा प्रतीकार करना उचित हो, उसे शीघ्र कीजिये । दूसरों द्वारा कहे गये वचनों का अनुसन्धान करनेवाले मुझ जैसे (दूतों) के वचन में यथार्थ वार्ता-कथन ही होता है । (अर्थात् हम केवल वृतान्त ही कह सकते हैं, शत्रु के प्रति क्या प्रतीकार करना चाहिये, इसके विषय में हम क्या कह सकते हैं ?) ॥२५॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम् ।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥ २६ ॥

अन्वयः—अथ वनसन्निवासिनां पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा, आत्तसत्क्रिये गते (सति), महीभुजा कृष्णासदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तत् वचः आचचक्षे ।

भावार्थ—वनेचर के इस प्रकार कहकर चले जाने पर युधिष्ठिर ने द्रौपदी के महल मे जाकर भाइयों के समीप यह वृत्तान्त कहा ।

पदव्याख्या—इति गिरम् ईरयित्वा=इस प्रकार का वचन कहकर । ईर+णिच्+क्त्वा । आत्तसत्क्रिये=सत्कार पानेवाले, धन आदि द्वारा समादृत, ('वनसन्निवासिनां पत्यौ' का विशेषण) आत्ता सत्क्रिया येन सः आत्तसत्क्रियः (बहुव्रीहि), तस्मिन् । आ+दा+क्त+स्त्रीप्रत्यय=आत्ता 'आदरानादरयोः सदसती' इति गतिसंज्ञा । सत्+कृ+श प्रत्यय (भावे)+सत्क्रिया 'आत्तं गृहीतं स्वाधीनीकृतमात्मवशीकृतम्' इति कोषः । वनसन्निवासिनां पत्यौ गते=वनवासियों के स्वामी किरातराज (उस वनेचर) के चले जाने पर । वने सन्निवसन्तीति वनसन्निवासिनः, तेषां वनसन्निवासिनाम्, वन+सत्+नि+वस्+णिनि (कर्तरि), पत्यौ=स्वामी के, 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी । "धवः पति प्रियः भर्ता" इत्यमरः । गते=गम्+क्त, सप्तमी एकवचन । अथ=उसके बाद । कृष्णासदनं प्रविश्य=द्रौपदी के महल में प्रवेश करके, कृष्णायाः सदनम् । "निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्" अमरकोष । महीभुजा=राजा युधिष्ठिर के द्वारा । महीं भुनक्तीति महीभुक्, तेन । तत्=वह (वचः), आचचक्षे=कहा गया, आङ्+ख्या (चक्षिङ्)+लिट्, प्रथम पु० एकवचन ।

अनुजसन्निधौ=भाइयों के समीप । अनुजानां सन्निधिः अनुजसन्निधिः, तस्मिन् । अनु पश्चात् जातः । अनु + जन + ड । सन्निधिः—सम + नि + धा + किः । वचः—वचन । आचचक्षे—कहा । इसका एक अलग विग्रह हो सकता है, 'कृष्णासदनम्' कृष्णा और सदनम् को अलग करके । 'महीभुजा कृष्णा वचः आचचक्षे' राजा से द्रौपदी के प्रति वचन कह गये । तब आचचक्षे क्रिया के दो कर्म होंगे—कृष्णा और वचः ।

संस्कृतव्याख्या—अथ=ततः । वनसन्निवासिनां पत्यौ=वनेचराणां स्वामिनि । "धवः पतिः प्रियो भर्ता" इत्यमरः । वने सन्निवसन्तीति वनसन्निवासिनः, तेषाम् । इति गिरम्=पूर्वोक्तं वचनम्, ईरयित्वा=उक्त्वा, आत्तसत्क्रिये =गृहीतपारितोषिके, आत्ता सत्क्रिया येन सः, तस्मिन् । गते सति=याते सति । महीभुजा—राज्ञा युधिष्ठिरेण, महीं भुनक्तीति महीभुक्, तेन । कृष्णासदनम्= कृष्णाया सदनम्, द्रौपद्याः भवनम् । 'निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्' इत्यमरः । प्रविश्यः—अन्तर्गत्वा । अनुजसन्निधौ—स्वभ्रातृसमीपे । अनुजानां सन्निधिः अनुजसन्निधिः, तस्मिन् । अनु पश्चात् जाताः । तत् वचः पूर्वोक्तं वचनम्, आचचक्षे=आख्यातम् । अथवा सदनं प्रविश्य=गृहं गत्वा, कृष्णा= द्रौपदी, तद् वचः आचचक्षे=तद्वचनम् आख्याता । चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वाद॰ प्रधाने कर्मणि लिट् । वनेचरोक्तं वृत्तान्तं भ्रातृणां समीपे द्रौपदीमकथयत् ।

भाषार्थ—तब वनेचरों के स्वामी (उस किरात) के इस प्रकार के वचन कहकर, सत्कार पाकर चले जाने के बाद राजा ने द्रौपदी के भवन में प्रवेश करके भाइयों के समीप वह वृत्तान्त कहा । (अथवा भवन में प्रवेश करके भाइयों के समीप द्रौपदी से वह वृत्तान्त कहा ।

टिप्पणी—(१) कृष्णासदनम् को अलग करके कृष्णा को आचचक्षे का कर्म भी माना जा सकता है । (२) अनुजसन्निधौ=अनुजानां सन्निधौ विग्रह करने पर भी सभी भाइयों के समीप का अर्थ होगा, न कि केवल भीम के समीप ।

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥ २७ ॥

अन्वयः—ततः द्रुपदात्मजा द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुम् अक्षमा (सती) नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजहार ।

भावार्थ—शत्रुओं की समृद्धि और उन्नति का समाचार सुनकर द्रौपदी

अपने भावावेश को न रोक सकी और राजा के क्रोध तथा उत्साह को बढ़ाने वाले वचन कहने लगी।

पदव्याख्या—द्विषतां सिद्धि निशम्य=शत्रुओं की समृद्धि सुनकर, द्विषतां= शत्रुओं की, द्विषन्तीति द्विषन्तः, तेषाम्। द्विष+शतृ (कर्तरि)। "रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः" अमरकोश। सिद्धिः=सफलता, समृद्धि, उपलब्धि। योग्यमृद्धिसिद्धिलक्ष्म्यौ वृद्धेरप्याह्वया इमे" अमरकोशः। सिध्+ क्तिन् (भावे)। निशम्य=नि+शम्+क्त्वा (ल्यप्)। अपाकृतीः=मनो-विकारों को, भावावेगों को, क्रोधावेग के लक्षणों को। अपाकरणम् अपाकृतिः, ताः। अप+आ+कृ+क्तिन् (भावे)। ततः=तब। ततस्त्याः=उनसे आई हुई, शत्रुओं से आई हुई अथवा उससे=सुनने से आई (अपाकृति का विशेषण)। तस्मादिति ततः, तद्+तसिल्। तत आगताः ततस्त्याः। ततस्+त्यप्+टाप्। विनियन्तुम् अक्षमा=रोकने में असमर्थ, नियन्त्रण करने में असमर्थ, वि+नि+ यम्+तुमुन्। क्षमा=क्षम्+अच्+टाप्। क्षमते इति क्षमा, न क्षमा अक्षमा (नञ् तत्पुरुष, द्रुपदात्मजा का विशेषण), नृपस्य=राजा युधिष्ठिर की। मन्युव्यवसायदीपिनीः=क्रोध और उद्योग को उत्तेजित करनेवाली (गिरः का विशेषण), मन्युः=क्रोध और 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। व्यवसायः=प्रयत्न, उद्योग, वि+अव्+सो+घञ् (भावे) दिपिनीः=बढ़ाने वाली, उत्तेजित करनेवाली, दीपयिष्यन्तीति दीपिन्यः, ताः। दीप्+णिनि, स्त्रियां ङीप्। मन्युश्च व्यवसायश्च मन्युव्यवसायौ (द्वन्द्व), मन्युव्यवसाययोः दीपिन्यः मन्युव्यवसायदीपिन्यः, ताः। गिरः द्रुपदात्मजा उदाजहार=वचन राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी ने कहे। आत्मनो जाता आत्मजा। द्रुपदस्य आत्मजा द्रुपदात्मजा (षष्ठी तत्पुरुष), उद्+आ+हृ+लिट् लकार।

संस्कृतव्याख्या—ततः=युधिष्ठिरवचनानन्तरम्। द्विषताम्=शत्रूणाम्, 'रिपौवैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। सिद्धिम्=उपलब्धिम् 'योग्य-मृद्धिः सिद्धिलक्ष्म्यौ वृद्धेऽप्याह्वया इमे' इत्यमरः। निशम्य=श्रुत्वा। ततस्त्याः= द्विषद्भ्य आगताः, तत आगताः, अपाकृतीः=अपकारान्, मनोविकारान्, क्रोध-लक्षणानि, विनियन्तुम्=निरोद्धुम्, अक्षमा=असमर्था (सती), नृपस्य= युधिष्ठिरस्य। मन्युव्यवसायदीपिनीः=क्रोधोद्योगयोः, दीपिनी=संवर्धिनीः, मन्युश्च व्यवसायश्च मन्युव्यवसायौ, दीपयिष्यन्तीति दीपिन्यः, मन्युव्यवसाययोः दीपिन्यः, ताः। गिरः=वाचः, उदाजहार=उक्तवती जगाद।

भावार्थ—तब शत्रुओं की समृद्धि सुनकर उससे आये हुए मनोविकारों को रोकने में असमर्थ द्रौपदी ने राजा युधिष्ठिर के क्रोध एवं उद्योग को बढ़ाने वाले वचन कहे।

टिप्पणी—'ततस्ततस्त्या' में वृत्यनुप्रास है।' 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' मम्मट।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः॥ २८॥

अन्वयः—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेपः इव भवति। तथापि निरस्तनारीसमयाः दुराधयः मां वक्तुं व्यवसाययन्ति।

भावार्थ—अपना वचन आरम्भ करती हुई द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है कि आप जैसे लोगों से किसी स्त्री का कुछ उपदेश तिरस्कार जैसा ही है किन्तु इस समय मानसिक व्यथाएँ स्त्रियोचित मर्यादा तोड़कर कुछ कहने के लिये मुझे प्रेरित कर रही है।

पदव्याख्या—भवादृशेषु=आप जैसे लोगों के बारे में, भवान् इव दृश्यन्ते ते भवादृशाः, तेषु (उपपद तत्पुरुष)। श्लोक २५ मे 'मादृशाम्' देखिये। अथवा भवन्तमिव पश्यन्ति जना एतान्, भवत्+दृश+कञ् (कर्मकर्तरि)। प्रमदाजनोदितम्—स्त्री द्वारा कहा गया (अनुशासनम् का विशेषण)। प्रकृष्टो मदो यस्याः सा प्रमदा अथवा प्रमदो हर्षोऽस्ति यस्या इति प्रमदा, एव जनः प्रमदाजनः, तेन उदितम्। प्र+मद्+अप् (भावे) प्रमदः। उदितम्=वद्+क्त (कर्मणि)। "प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी" इत्यमरः। अनुशासनम् अधिक्षेप इव भवति=उपदेश तिरस्कार के समान होता है। अनुशासनम्=आदेश, उपदेश, परामर्श। अनु+शास्+ल्युट्। अधिक्षेप=तिरस्कार, अपमान, अधि+क्षेप+घञ्। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति=मुझे बोलने के लिये प्रेरित करती है। वच्+तुमुन्, वि+अव+सो+णिच्+लट्। ('दुराधयः' की क्रिया) निरस्तनारीसमयाः=स्त्रियोचित व्यवहार को लुप्त करनेवाली (दुराधयः का विशेषण), समया=व्यवहार, आचार। नारीणां समयाः नारीसमयाः, निरस्ताः नारीसमया यैस्ते निरस्तनारीसमयाः, (बहुव्रीहि)। निर्+अस्+क्त=निरस्तम्। दुराधयः=बुरी मानसिक व्यथाएँ। आधीयते दुःखमनेन अथवा आधीयते प्रतीकाराय मनोऽनेन इति वा, आधिः; दुष्टाः आधयः (प्रादि तत्पुरुष)। आ+धा+कि 'उपसर्गे घोः किः' सूत्र से। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा।'

संस्कृतव्याख्या—भवादृशेषु=भवद्विधेषु श्रेष्ठजनेषु बुद्धिमत्सु। प्रमदाजनोदितम्=स्त्रिया कथितम्। प्रकृष्टो मदो यस्याः सा प्रमदा, प्रमदा एव जनः प्रमदाजनः, तेनोदितम्। 'प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी' इत्यमरः। अनुशासनम्=उपदेशवचनम्। अधिक्षेप इव भवति=तिरस्कार इव भवति। तथापि वक्तुमनुचितत्वेऽपि, निरस्तनारीसमयाः=त्याजितस्त्रीसमाचाराः, नारीणां समयाः नारीसमयाः, निरस्ताः नारीसमयाः यैस्ते निरस्तनारीसमयाः, 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। दुराधयः=दुष्टा मनोव्यथाः, आधीयते दुःखमेभिः आधयः, दुष्टाः आधयः दुराधयः, 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति=मां कथयितुं प्रेरयन्ति। अत्र हेतुप्रदर्शनात् काव्यलिङ्गालङ्कारः।

भावार्थ—आप जैसे लोगों के प्रति किसी स्त्री का उपदेश तिरस्कार के समान ही होता है, फिर भी मन की दुःखदायी व्यथाएँ जिन्होंने स्त्रियोचित आचार को लुप्त कर दिया है, मुझे कहने के लिए प्रेरित कर रही हैं।

टिप्पणी—यहाँ कथन का हेतुप्रदर्शन द्वारा समर्थन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार है, 'समर्थनीयार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्' ॥ २८ ॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥ २९ ॥

अन्वयः—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः अखण्डं धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रक् इव आत्महस्तेन अपवर्जिता।

भावार्थ—द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा कि आपने अपने कुल के प्रतापी राजाओं द्वारा चिरकाल से धारण की गई राज्यलक्ष्मी का उसी प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार मदस्राव वाला हाथी माला को फेंक देता है।

पदव्याख्या—अखण्डम्=सम्पूर्ण रूप से। न खण्डः अखण्डः, तद् यथा स्यात्तथा। नास्ति खण्डो अस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। आखण्डलतुल्यधामभिः =इन्द्र के समान पराक्रमवाले (भूपतिभिः का विशेषण), आखण्डलेन तुल्यं धाम येषां, तैः (बहुव्रीहि)। धाम=तेज, पराक्रम, धा+मानिन् प्रत्यय। चिरम्= चिरकाल से, बहुत दिनों से (अव्यय)। स्ववंशजैः भूपतिभिः धृता= अपने वंश में उत्पन्न राजाओं द्वारा धारण की गयी (मही का विशेषण)। स्वस्य वंशः स्ववंशः, तस्माज्जायन्ते स्ववंशजास्तैः, स्ववंश+जन्+ड प्रत्यय (कर्मणि उपपद तत्पुरुष)। भूपतिभिः=भुवः पतयः भूपतयः, तैः। धृता+ धृ+(कर्मणि)+टाप्। त्वया=आपके द्वारा। आत्महस्तेन=अपने ही

हाथ से, आत्मनो हस्तः आत्महस्तः, तेन। मतङ्गज के पक्ष में—अपनी सूँड से। मदच्युता मतङ्गजेन स्रक् इव=मदस्राववाला हाथी जिस प्रकार माला को फेंकता है। मदं च्योततीति मदच्युत्, तेन मदच्युता, मद गिरानेवाला, चुआनेवाला अर्थात् मदस्राववाले, मद+च्युत्+क्विप्। मतङ्गजेन=मतङ्गात् जायते मतङ्गजः, तेन, मतङ्ग+जन्+ड प्रत्यय (कर्तरि)। मतङ्गज=मतङ्ग नाम के ऋषि से उत्पन्न। रघुवंशः—'मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्'। स्रज्=सृज्यते इति, सृज्+क्विप्। अपवर्जिता=दूर फेंक दी गई। अप+वृज्+णिच्+क्त+टाप्।

संस्कृतव्याख्या—आखण्डलतुल्यधामभिः=इन्द्रतुल्यप्रभावैः। आखण्डलेन तुल्यं धाम येषां तैः, स्ववंशजैः=निजवंशोत्पन्नैः, पूर्वपुरुषैः। भूपतिभिः=राजभिः। अखण्डम्=सम्पूर्णम्। नास्ति खण्डो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। धृता=स्वाधीनीकृता, महीम्=पृथ्वीम्, राज्यमित्यर्थः। त्वया=भवता, युधिष्ठिरेणेत्यर्थः। मदच्युता=मदस्राविणा, मदं च्योततीति मदच्युत्, तेन मदच्युता। मद+च्युत्+क्विप्। मतङ्गजेन=गजेन, 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। स्रक् इव=पुष्पमालेव। 'माल्यं मालास्रजौ' इत्यमरः। आत्महस्तेन=स्वहस्तेन, गजपक्षे—स्वकरेण, अपवर्जिता=परित्यक्ता।

भावार्थ—इन्द्र के समान पराक्रमवाले अपने वंश के राजाओं द्वारा समग्र रूप में अधीन की गई पृथ्वी का आपने स्वयं अपने हाथ से (जूए द्वारा) परित्याग कर दिया, जिस प्रकार मदस्राव से युक्त हाथी माला को अपनी सूँड से दूर फेंक देता है।

टिप्पणी—(१) इस पद्य में उपमा अलंकार है। 'साधर्म्यमुपमा भेदे'—मम्मट। मतङ्ग नाम के ऋषि के शाप से चित्ररथ का पुत्र प्रियंवद हाथी बन गया था, इस कारण हाथी को मतङ्गज कहते हैं॥ २९॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥३०॥

अन्वयः—ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति ते मूढधियः पराभवं व्रजन्ति। शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिता इव प्रविश्य घ्नन्ति।

भावार्थ—'शठे शाठ्यं समाचरेत्' का उपदेश देते हुए द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है कि जो कपटी लोगों के प्रति कपट का आचरण नहीं करते, वे नष्ट हो जाते हैं। दुष्ट लोग अरक्षित लोगों को वैसे ही मार डालते हैं, जैसे कवच आदि द्वारा अरक्षित शरीर में बाण प्रवेश कर प्राण ले लेते हैं।

पदव्याख्या—ते मूढधियः पराभवं व्रजन्ति=वे मन्द बुद्धिवाले पराजय को पाते हैं अर्थात् पराजित होते हैं। मूढा धीः येषां ते मूढधियः। मूढा=मुह्+क्त+टाप्। धीः=ध्यै+क्विप्। ध्यायत्यनया इति धीः=तर्क करने या निर्णय करने की मानसिक शक्ति। 'पराभवः परिभवः पराजयः' कोष। पराभवम्=परि+भू+अप (भावे)। परिभवजं पराभवः, तम्। मायाविषु मायिनः न भवन्ति=जो कपट करनेवाले के प्रति कपटी नहीं बनते, मायावियों के प्रति मायावी नहीं होते। मायावी=माया+विनि, 'अस्मायामेघास्रजो विनि'। 'विश्वं मात्यस्यां' अथवा मिमीते इति+य (उणादि)। मां याति 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र से, माया एषां विद्यते मायाविनः। औपश्लेषिक अधिकरण, मायावियों पर, मायावियों के प्रति, मायिनः=माया अस्ति एषाम्, माया+इनिः। शठाः तथाविधान् प्रविश्य घ्नन्ति=धूर्त लोग उस प्रकार के व्यक्तियों के बीच प्रवेशकर उन्हें मार डालते हैं उनके भीतर मिलकर। जिसे बोलचाल में 'मिलकर मारने' की नीति कहा जाता है। तथा विधा येषां ते तथाविधा, तान्। तद् +थाल् प्रत्यय, 'प्रकारवचने थाल्' सूत्र से। प्रविश्य=उनके रहस्यों में प्रवेश करके, उनके भेद जानकर। प्र+विश्+क्त्वा (ल्यप्), इसका दूसरा अर्थ 'इषवः'=बाणों के पक्ष में भी होगा। असंवृताङ्गान्=अरक्षित अंगो वालों की तरह के। न संवृतानि असंवृतानि, असंवृतानि अङ्गानि येषां ते, तान्। सम्+वृ+क्त (कर्मणि)=संवृतम्। निशिताः इषव इव=तीक्ष्ण बाणों की तरह से। 'कलम्बमार्गणशराः पत्री रोष इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। नि+शो+क्त (कर्मणि)। शो=तेज करना।

संस्कृतव्याख्या—ये जनाः, मायाविषु=मायावत्सु, धूर्तेषु, कपटिषु वा। मायिनः=मायावन्तः, कपटिनः न भवन्ति। ते=तथाविधाः, मूढधियः=मन्दबुद्धय; मूढा: धीः येषां ते। पराभवं व्रजन्ति=पराजयं गच्छन्ति, विनाशं यान्ति। शठाः=धूर्ताः। तथाविधान्=तादृशान्, तथा विधा येषां ते। असंवृताङ्गान्=अरक्षिताङ्गान् कवचादिभिः। न संवृतानि अङ्गानि येषां ते, तान्। निशिताः इषवः=तीक्ष्णाः बाणा इव ('कलम्बमार्गणशराः पत्री रोष इषुर्द्वयोः' इत्यमरः)। प्रविश्य=अन्तःप्रविश्य, रहस्यं ज्ञात्वा, आत्मीयो भूत्वा, घ्नन्ति=मारयन्ति। अतः शठे शाठ्यमेव समाचरेत्। अत्र काव्यलिङ्गालङ्कार उपमा च।

भावार्थ—जो कपट करनेवालों के प्रति कपटाचारी नहीं बनते, वे मन्द-

बुद्धिवाले लोग पराजित होते हैं। अपने अंगों को सुरक्षित न रखनेवाले वैसे लोगों में प्रवेश कर (आत्मीय बनकर), धूर्त उन्हें उसी प्रकार मार डालते हैं, जैसे तीक्ष्ण बाण कवच आदि से अरक्षित अंगोंवाले लोगों के भीतर घुसकर उन्हें मार डालते हैं।

टिप्पणी—(१) हेतुप्रदर्शनपूर्वक पूर्वोक्त कथन का समर्थन होने से यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। साथ ही 'इषव इव' में उपमा भी है। (२) कवि के कूटनीति-विषयक ज्ञान का सुन्दर उदाहरण इस पद्य में मिलता है। द्रौपदी के चरि· चत्रण में उसके कूटनीति विषयक ज्ञान के उदाहरण के लिए भी यह पद्य द्रष्टव्य है ॥ ३० ॥

गुणानुरक्तमनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी त्वदन्यः क इव नराधिपः गुणानुरक्तां कुलजां मनोरमाम् आत्मवधूम् इव श्रियं परैः अपहारयेत।

भावार्थ—राजलक्ष्मी की एक कुलीना भार्या के साथ उपमा देते हुए द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती हैं कि आपने राजलक्ष्मी का शत्रुओं द्वारा अपहरण करा दिया है, ऐसा कौन हो सकता है।

पदव्याख्या—गुणानुरक्ताम्=गुणों में अनुरक्त, गुणों से प्रेम करनेवाली। गुणेषु अनुरक्ता गुणानुरक्ता, अनु+रञ्ज्+क्त (कर्तरि, तृतीया तत्पुरुष)। गुण छः हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैध। इनके द्वारा राज्य स्थिर रहता है। वधू के पक्ष में प्रेम आदि चारित्रिक गुणों के कारण प्रेम करनेवाली, 'श्रियम्' के पक्ष में सन्धिविग्रहादि गुणों में स्थिर रहनेवाली। अनुरक्तसाधनः= अनुकूल सहायकों वाला। अनुरक्तं साधनं यस्य सः (बहुव्रीहि), साध्यत्यनेनेति साधनम्-साध्+णिच्+ल्युट् (नराधिप का विशेषण)। वधू वाले पक्ष में साधन या सहायक से युक्त। कुलाभिमानी=कुल पर गर्व करनेवाला, कुल का मानी। कुलस्य अभिमान कुलाभिमान, कुलाभिमान अस्ति अस्येति कुलाभिमानी, मत्वर्थीय इनि प्रत्यय। अभि+मन्+घञ्, अभिमान+इनि। कुलजाम्=उत्तमकुल में उत्पन्न, कुलीना (वधूम् का विशेषण)। कुलात् कुले वा जाता कुलजा, ताम्। कुल+जन्+ड+टाप्। श्रियम् का विशेषण होने पर कुलपरम्परा से आ रही राजलक्ष्मी को। नराधिपः=राजा, नराणाम् अधिपः, त्वदन्य क एव परैः अपहारयेत्=तुम्हारे अतिरिक्त कौन भला दूसरों से

(शत्रुओं से) हरण करायेगा, हरण होने देगा, अर्थात् कोई इस प्रकार की राज-लक्ष्मी का शत्रुओं द्वारा हरण नहीं होने दे सकता, आप ही एक ऐसे हैं, जिन्होंने स्वयं राजलक्ष्मी का हरण करा दिया। अप + हृ + णिच् + लिङ् लकार; 'हृक्रोरन्यतरस्याम्'। परैः=दूसरों से, शत्रुओं द्वारा, मनोरमाम् आत्मवधूम् इव =मन को आनन्द देनेवाली अपनी भार्या की तरह, रमयतीति रमा, मनसो रमा मनोरमा (षष्ठी तत्पुरुष), रमा=रम् + णिच् + अच् + टाप्। आत्मनो बधू आत्मवधू, ताम्। श्रियम्=राजलक्ष्मी को (तुलना प्रथमश्लोक 'श्रियः कुरूणाम्')।

संस्कृतव्याख्या—अनुरक्तसाधनः=अनुकूलसहायकः, अनुरक्तं साधनं यस्य सः। कुलाभिमानी=क्षत्रियत्वाभिमानी, कुलीनत्वाभिमानी, त्वदन्यः कः=त्वत्तः अन्यः क इव। नराधिपः=नृपतिः, राजा। गुणानुरक्ताम्=गुणैः अनुरक्ताम्, कुलजाम्=कुलीनाम्, मनोरमाम्=मनोहारिणीम्, आत्मवधूम् इव=स्वभार्यामिव, गुणानुरक्ताम्=सन्ध्यादिभिः गुणैः अनुरागवतीम्। कुलजाम्=कुलक्रमादागताम्, मनोरमाम्=मनोऽनुकूलाम्, श्रियम्=राजलक्ष्मीम्, परैः=शत्रुभिः, अपहारयेत् =अपहारं कारयेत्। न कोऽप्यन्यः इति भावः। अत्र श्लेषानुप्राणितोपमालङ्कारः।

भावार्थ—सहायकों से सम्पन्न तथा अपने कुल पर अभिमान करनेवाला आपके अतिरिक्त भला दूसरा कौन राजा गुणों के कारण प्रेम करनेवाली, मन को आनन्द देनेवाली अपनी पत्नी का दूसरों से अपहरण कराने की तरह (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) गुणों से स्थायी बनी हुई, वंशपरम्परा से चली आ रही, मन को आनन्द देनेवाली राजलक्ष्मी का शत्रुओं द्वारा अपहरण करायेगा?

टिप्पणी—(१) इस पद्य में श्लेषानुप्राणित उपमालंकार है। गुणानुरक्ताम्, कुलजाम्, आदि में श्लेष है, इनके दो-दो अर्थ होंगे, एक 'आत्मवधूम्' के पक्ष में; दूसरा 'श्रियम्' के पक्ष में ॥ ३१ ॥

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—नरदेव! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्तमानं भवन्तम् उदीरितः मन्युः शुष्कं शमीतरुम् उच्छिखः अग्निरिव कथं न ज्वलयति।

भावार्थ—द्रौपदी युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि को भड़काने के लिये कहती है कि हे महाराज! इस समय वीरों द्वारा निन्दित इस मार्ग पर चलते हुए आपके क्रोध की अग्नि क्यों नहीं भड़क उठती।

पदव्याख्या—भवन्तम्=आपको। एतर्हि=इस (समय, विशेषण), इदम्=एत+र्हिल् प्रत्यय 'इदमो र्हिल्' सूत्र से। 'एतेतौ रथोः' सूत्र से इदम् की जगह एत होगा। मनस्विगर्हिते=मनस्वियों द्वारा निन्दित, मानी जनों द्वारा निन्दित। मनस्विभिः गर्हितं मनस्विगर्हितम्, तस्मिन् (तृतीया तत्पुरुष), मनस्+विनि प्रत्यय। प्रशस्तं मनोऽस्यास्तीति। गर्ह्+क्त प्रत्यय (कर्मणि, वर्त्मनि का विशेषण)। वर्त्मनि विवर्तमानम्=मार्ग में चलते हुए (भवन्तम्), वि+वृत+शानच् (कर्तरि)। 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः'—अमरकोष। विवर्तमानम् का अर्थ होगा, बार-बार चलते हुए। नरदेव=हे राजा। नराणां देवः नरदेवः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा नरेषु देवः तत्सम्बुद्धौ, नरो देवः इव नरदेव, तत्सम्बुद्धौ। उदीरितः मन्युः कथं न ज्वलयति=उद्दीपित क्रोध क्यों नहीं जलाता। उदीरितः=उद्+ईर्+णिच्+क्त, उत्तेजित। मन्युः=क्रोध 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। ज्वलयति=ज्वल्+णिच्+लट् लकार। उच्छिखः अग्निः शुष्कं शमीतरुम् इव=जिस प्रकार लपटों वाली अग्नि सूखे हुए शमी-वृक्ष को जला देती है। उद्गताः शिखा यस्य सः उच्छिखः (बहुव्रीहि), शी+ख (उणादि)=शिखा। जिसकी लपट ऊपर निकल रही है अर्थात् जलती हुई आग। शुष्कम्=सूखे हुए, शुष्=क्त (कर्तरि) 'शुषः कः' सूत्र से 'क' आदेश। शमीतरुम्=शमी के वृक्ष को, शमी चासौ तरुश्चेति, तम् (कर्मधारय) अथवा शमीनामा तरुः।

संस्कृतव्याख्या—हे नरदेव!=हे नरेन्द्र! एतर्हि=अस्मिन्नापत्काले, मनस्विगर्हिते=मानिजननिन्दिते, मनस्विभिः गर्हितं मनस्विगर्हितम्, तस्मिन्। वर्त्मनि=मार्गे, विवर्तमानम्=दुर्दशामनुभवन्तम्, भवन्तम्=त्वाम्। उदीरितः मन्युः=उद्दीपितः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। शुष्कं शमीतरुम्=नीरसं शमीनामानं वृक्षम् उच्छिखः प्रज्वलितः, उद्गताः शिखा यस्य स उच्छिखः। अग्निरिव=अनल इव, कथं न ज्वलयति=कथं न दहति। ज्वलयितुमित्यर्थः।

भावार्थ—हे नराधिप! इस आपत्ति की दशा में मानी जनों द्वारा निन्दित मार्ग पर पुनः-पुनः चलनेवाले आपको उद्दीप्त क्रोध उसी प्रकार क्यों नहीं जलाता, जिस प्रकार लपटवाली आग सूखे हुए शमी के पेड़ को जला देती है।

टिप्पणी—इसमें उपमालंकार है ॥ ३२ ॥

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—देहिनः स्वयमेव अवन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तुः वश्याः भवन्ति।

अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन (सता) जनस्य आदरः न, विद्विषा च (सता) दरः न ।

भावार्थ—द्रौपदी युधिष्ठिर के क्रोध को भड़काती हुई कहती है कि जिस व्यक्ति का क्रोध खाली नहीं जाता, उसके वश में सभी लोग हो जाते हैं। क्रोधहीन व्यक्ति का न तो मित्र आदर करते हैं और न शत्रु भय करते हैं।

पदव्याख्या—अबन्ध्यकोपस्य=जिसका क्रोध खाली नहीं जाता, अमोघ क्रोधवाले व्यक्ति का। न बन्ध्यः अबन्ध्यः, अबन्ध्यः कोपः यस्य सः, तस्य। वन्धुं योग्यः बन्ध्यः, बध्+ण्यत् (कर्मणि)। आपदां विहन्तुः=आपत्तियों का नाश करनेवाले के। आ+पद्+क्विप् (भावे)। विहन्तुः=वि+हन्+तृच् से षष्ठी एकवचन। देहिनः स्वयमेव वश्याः भवन्ति=लोग स्वयं ही वश में हो जाते हैं। देहः अस्ति एषामिति देहिनः। देह+इनि (मत्वर्थीय)। वश्याः= वशं गताः, वश्+यत्। अमर्षशून्येन जन्तुना=क्रोधहीन व्यक्ति से। न मर्षः अमर्षः, तेन शून्यः अमर्षशून्यः, तेन। मृष्+घञ्=मर्षः। अमर्षः=क्रोध। जनस्य=व्यक्ति का। जातहार्देन (सता)=मित्रता होने के कारण। जातं हार्दम् अस्यासौ जातहार्दः, तेन (बहुव्रीहि)। जातम्=जन्+क्त। हार्दम्=हृदयस्य कर्म। 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' से हृदय के स्थान पर हृद् होता है। आदरः न=आदर नहीं होता, विद्विषा=शत्रुता होने के कारण। दरः न=भय नहीं होता, 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे'—अमरकोश। चौथी पंक्ति के 'विद्विषादरः' से दो शब्द बनेंगे 'विद्विषा आदरः' 'विद्विषादरः' और फिर अन्वय होगा 'जातहार्देन न आदरः विद्विषा न दरः' (मित्रता से आदर नहीं होता और शत्रुता होने पर डर नहीं होता। अथवा=यदि विग्रह न करें तो 'जातहार्देन आदरः विद्विषा न आदरः' मित्र होने का कोई महत्त्व नहीं होता अथवा शत्रु होने का कोई महत्त्व नहीं होता)।

संस्कृतव्याख्या—देहिनः=प्राणिनः, स्वयमेव, अबन्ध्यकोपस्य=अमोघक्रोधस्य, सफलामर्षस्येति, न बन्ध्यः, अबन्ध्यः कोपः यस्य सः, तस्य। आपदां विहन्तुः=विपदां संहारकस्य नरस्य, वश्याः=वशं गताः भवन्ति। अमर्षशून्येन =कोपहीनेन, जन्तुना=जनेन, जातहार्देन सता=जातस्नेहेन, हेतौ तृतीया। जनस्य आदरो न=पुरुषस्य सम्मानः न भवति। विद्विषा च सता=द्विषता च सता, दरः न=भयम् न। 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः।

भावार्थ—शरीरधारी प्राणी स्वयं ही उस व्यक्ति के अधीन हो जाते हैं,

जिसका क्रोध अमोघ होता है और जो विपत्तियों का नाश करता है, व्यक्ति के क्रोधहीन होने पर प्रेम उत्पन्न होने के कारण आदर नहीं होता और उसकी शत्रुता से भय नहीं होता। अथवा लोग उसके मित्र होने या शत्रु होने का आदर नहीं करते।

टिप्पणी—'विद्विषादरः' का दो प्रकार से विग्रह करके अर्थ निकाला जायेगा, 'विद्विषा आदरः' या 'विद्विषा दरः'॥ ३३॥

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरिरेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः॥ ३४॥

अन्वयः—(प्राक्) लोहितचन्दनोचितः महारथः अयं वृकोदरः (सम्प्रति) रेणुरूषितः पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् सत्यधनस्य (ते) मानसं नो दुनोति कच्चित् ?

भावार्थ—युधिष्ठिर के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए द्रौपदी उनका ध्यान भीम की धूलि-धूसरित अवस्था की ओर आकृष्ट कर कहती है कि क्या इन्हें देखकर आपका हृदय व्यथित नहीं होता ?

पदव्याख्या—परिभ्रमन्=घूमते हुए, घूमनेवाला (वृकोदर का विशेषण), परि+भ्रम्+लट्+शतृ। लोहितचन्दनोचितः—लाल रंग के चन्दन लगाने के शौकीन। उचितः=अभ्यस्त, शौकीन। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। लोहितं चन्दनं लोहितचन्दनम्, उचितं लोहितचन्दनम् अस्येति लोहितचन्दनोचितः (बहुव्रीहि), 'वाहिताग्न्यादिषु' नियम से 'उचित' पहले न रखकर बाद में रखा गया। उचित=वच+क्त (कर्मणि)। 'लोहितो रोहितो रक्तः' अमरकोश। पदातिः=पैदल चलनेवाला, पदाभ्याम् अतति इति पदातिः। पाद+अत्+इन् (वृकोदरः का विशेषण)। अन्तर्गिरिः= गिरिषु अन्तः इति अन्तर्गिरिः (अव्ययीभाव), विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः 'गिरेश्च सेनकस्य' से विकल्प से समासान्त का अभाव। रेणुरूषितः=धूलि-धूसरित, धूलिच्छुरित। रेणुभिः रूषितः रेणुरूषितः (तृतीया तत्पुरुष), रुष्+क्त (कर्तरि)। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः' अमरकोष। 'गुण्ठितरूषिते' अमरकोश। महारथः=महारथी। महान् रथोऽस्येति। सत्यधनस्य=सत्यव्रती, सत्यभाषी का, सत्य ही जिसका धन है, सत्यं धनमस्येति सत्यधनः, तथा युधिष्ठिर का। मानसम्=हृदय को, मन को 'चित्तं तु चेतो तु हृदयं हृन्मानसं मनः' अमरकोश। मन एव मानसम्, स्वार्थे अण् प्रत्यय। नो दुनोति=नहीं व्यथित

करता, नो=नहीं। दुनोति=दु+लट् लकार। कच्चित्=क्या ? 'कच्चित्कामप्रवेदने' अमरकोशः। अयं वृकोदरः=यह भीम। वृकस्य उदरमिव उदरं यस्य सः (बहुव्रीहि)।

संस्कृतव्याख्या—लोहितचन्दनोचितः=अभ्यस्तरक्तचन्दनः, रक्तचन्दनचर्चितः। लोहितं चन्दनं लोहितचन्दनम्, उचितं लोहितचन्दनमस्येति। महारथः=अतिरथः, रथचारी वा, अयं वृकोदरः=पुरःस्थः भीमः, वृकस्य उदरमिव उदरं यस्य यः। (सम्प्रति) रेणुरूषितः=धूलिच्छुरितः, पदातिः=पदचारी, पदाभ्यां गच्छतीति पदातिः। अन्तर्गिरिः=गिरिष्वन्तः, परिभ्रमन्=पर्यटन्, सत्यधनस्य=सत्यवादिनः, सत्यं धनमस्येति सत्यधनः, तस्य। तव मानसम्=हृदयम्, नो दुनोति कच्चित्=किं न परितापयति ? 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। तव मानसं निश्चिन्तमिव लक्ष्यते।

भावार्थ—(पहले) लालचन्दन लगानेवाले, महान् रथ पर चलनेवाले ये भीम (अब) धूलि-धूसरित, पैदल चलते हुए, पर्वतों के बीच घूमते हुए क्या सत्यव्रती आपके मन में सन्ताप नहीं उत्पन्न करते ? अर्थात् इन्हें देखकर क्या आपके मन में सन्ताप नहीं होता ॥३४॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥३५॥

अन्वयः—वासवोपमः य उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यं वसु अयच्छत् स धनञ्जयः अधुना तव वल्कवासांसि आहरन् (तव) मन्युं कथं न करोति।

भावार्थ—युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने के लिए द्रौपदी अर्जुन की वर्तमान अवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहती है कि जिस अर्जुन ने उत्तरकुरु देश को जीतकर आपको धन का विशाल कोष अर्पित किया, उसे वल्कल वस्त्र ढोते होते हुए देखकर भी क्या आपको क्रोध नहीं होता ?

पदव्याख्या—विजित्य=जीतकर, वि+जि+क्त्वा (ल्यप्)। यः=जिस अर्जुन ने। प्राज्यम्=महान्, प्रचुर। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' अमरकोष। प्राजीयते इति प्राज्यम्, प्र+अंज्+ण्यत् (कर्मणि)। अथवा प्रकर्षेण अज्यते (काम्यते) इति प्राज्यम्, प्र+अञ्ज्+क्यप् (कर्मणि, 'वसु' का विशेषण)। अयच्छत्=दिया, प्रदान किया। दा+लङ् लकार। उत्तरान् कुरून्=उत्तर कुरु देश को। मेरु पर्वत के उत्तर के प्रदेश को। प्राचीन परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण विश्व के नौ खण्ड हैं, उनमें एक उत्तर कुरु भी है। ये ९ खण्ड हैं—भारत, किम्पुरुष,

हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, उत्तरकुरु, भद्राश्व और केतुमाल । अकुप्यम् =सोना और चाँदी वाला ('वसु' का विशेषण) । कुप्यते इति कुप्यम् । कुप्+क्यप् (कर्मणि) न कुप्यम् अकुप्यम्, तत् । सोने और चाँदी से भिन्न प्रकार के धन को कुप्य कहते हैं और उससे भिन्न अकुप्य अर्थात् सोना और चाँदी। 'स्यात् कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्ये कृताकृते । ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्'—अमरकोश। वसु=धनम्, 'वसु तोये धने मणौ' । वासवोपमः=इन्द्र के समान, इन्द्र जैसे, वासवः उपमा यस्य सः (बहुव्रीहि) । सः अधुना तव वल्कवासांसि आहरन्=वब वही आपके वल्कलवस्त्र को ढोते हुए । वस्यते आच्छाद्यते अनेन इति वासः; वस्+असुन् (अस्, करणे कर्मणि वा) । आहरन्=ढोते हुए, आ+हृ+शतृ । धनञ्जयः कथं मन्युं न करोति=अर्जुन क्रोध क्यों नहीं उत्पन्न करता ? अर्थात् इस अर्जुन को देखकर आपके मन में शत्रु के प्रति क्रोध क्यों नहीं आता ? धन+जि+खच् प्रत्यय, धनं जयतीति धनञ्जयः । 'सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्त-मादाय केवलम् । मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जय ॥'—महाभारत।

संस्कृतव्याख्या—वासवोपमः=इन्द्रोपमः, इन्द्रतुल्यः यः अर्जुनः, उत्तरान् कुरून्=मेरोरुत्तरान्मानुषान्देशविशेषान्, विजित्य=जित्वा । प्राज्यम्=प्रभूतं बहुलं वा 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । अकुप्यम्=कुप्यभिन्नं हेमरूप्यात्मकम् । 'स्यात् कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्यं कृताकृते । ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः । वसु=धनम्, 'वसु तोये धने मणौ' इत्यमरः । अयच्छत्=दत्तवान् । सः तादृशः=ऊत्तरकुरुविजयी । धनञ्जयः=अर्जुनः, अधुना=सम्प्रति, अस्मिन्काले, तव=युधिष्ठिरस्य, वल्कवासांसि आहरन्=वल्कलवस्त्राणि गृह्णन्, तव मन्युम्=क्रोधम्, कथं न करोति=कथं नोत्पादयति ?

भावार्थ—इन्द्र जैसे जिसने उत्तरकुरु देश को जीतकर प्रभूत सोने और चाँदी से युक्त धन दिया था, वही धनञ्जय इस समय आपके वल्कलवस्त्रों को ढोता हुआ देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं आता ? ॥३५॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्वं धृतिसंयमौ बाधितुं कथं न उत्सहसे ।

भावार्थ—युधिष्ठिर के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए द्रौपदी उनका ध्यान

नकुल और सहदेव की ओर आकृष्ट करती हुई कहती है कि वन में भूमि पर सोने से कठोर शरीरवाले, दो हाथियों की तरह बालों से ढँके हुए दोनों को देखकर आप अब भी अपना धैर्य और संयम क्यों नहीं छोड़ते ?

पदव्याख्या—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती=वनप्रदेश की भूमिरूपी शय्या से जिन दोनों के शरीर कठोर हो गये हैं। वनस्य अन्तः वनान्तः (षष्ठी तत्पुरुष), वनान्त एव शय्या वनान्तशय्या (कर्मधारय), अकठिना कठिना कृता इति कठिनी-कृता, कठिन+च्वि प्रत्यय+कृ+क्त (कर्मणि)+टाप्। वनान्तशय्यया कठिनी-कृता आकृतिर्ययोस्तौ वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती (बहुव्रीहि), शेते अत्र इति शय्या, शी+क्यप् (अधिकरण)। विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव=सब ओर से बालों से ढँके हुए पर्वत से उत्पन्न दो हाथियों जैसे (यमौ अर्थात् नकुल और सहदेव का विशेषण)। विष्वक्=सब ओर से। वि+सु+अञ्च्+क्विन्। कचाचितौ=बालों से व्याप्त, कचैः आचितौ, आ+चि+क्त (कर्मणि), अगजौ =पर्वत से उत्पन्न। अग=पर्वत, जो चलता-फिरता नहीं है, अचल रहता है। न गच्छतीति अगः, तस्मात् जायेते तौ अगजौ, नञ्+गम्+ड (कर्तरि)= अग। अग+जन्+ड (कर्तरि)=अगजः। गजौ इव—दो हाथियों की तरह,'मत-ङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। कथं त्वम् एतौ यमौ विलो-कयन्=क्यों आप इन दोनों जुडवाँ भाइयों को देखते हुए। वि+लोक्+णिच् +लट्+शतृ। 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इत्यमरः। धृतिसंयमौ बाधितुं न उत्सहसे=धैर्य और संयम को छोड़ने के लिए उत्साह क्यों नहीं करते ? धैर्य संयम को क्यों नहीं छोड़ते ?

संस्कृतव्याख्या—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती=वनभूशयनकठोरशरीरौ, वनस्य अन्तः वनान्तः(ष० तत्पु०); वनान्त एव शय्या वनान्तशय्या, अकठिना कठिना कृता इति कठिनीकृता, विष्वक्=परितः, 'समन्ततस्तु परितः, सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। कचाचितौ=केशव्याप्तौ। 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः, इत्यमरः। अगजौ=गिरिसम्भवौ। न गच्छतीति अगः, तस्माज्जायेते, तौ। गजौ इव=हस्तिनौ इव। एतौ=पुरःस्थौ, यमौ= यमलौ, नकुलसहदेवौ, 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे [illegible] मे यमजेऽपि च' इति विश्वः। विलोकयन्=पश्यन्। त्वम्=भवान्, धृतिसंयमौ=धैर्यनियमौ, धृतिश्च संयमश्च धृतिसंयमौ। बाधितुम्=निरोद्धुम्, कथं न उत्सहसे=कथं न प्रवर्त्तसे। ('गजौ गजौ' 'यमौ यमौ' इत्यत्र यमकालंकारः।)

भावार्थ—वन की भूमिरूपी शय्या से कठोर बने हुए शरीरवाले;

सभी ओर से केशों से व्याप्त दो पर्वतीय हाथियों जैसे इन दोनों जुड़वाँ भाइयों (नकुल और सहदेव) को देखकर आप अपने धैर्य और संयम को छोड़ने का साहस क्यों नहीं करते ? (अर्थात् इन्हें इस अवस्था में देखकर भी आपका धैर्य और संयम क्यों नहीं टूटता ?)

टिप्पणी—'अगजो गजो' 'संयमो यमो' में यमकालङ्कार है ।। ३६ ।।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तय ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ।। ३७ ।।

अन्वयः—इमां तावकीं धियम् अहं न वेद । चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु । (किन्तु) परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति ।

भावार्थ—युधिष्ठिर के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए द्रौपदी कहती है कि मैं आपकी इस बुद्धि को नहीं समझ पाती । आपकी इस विपत्ति को देखकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है ।

पदव्याख्या—इमां तावकीं धियम् अहं न वेद=इस आपकी बुद्धि को मैं न ें समझ पाती । इमाम्=विपत्ति की अवस्था में सन्तुष्ट होकर पड़े रहनेवाली बुद्धि को । तावकीम्=तव इयं तावकी, ताम् । युष्मद्+अण्+ङीप्, 'तस्येदम्' सूत्र से अण् । 'तवकममकावेकवचने' से युष्मद् की जगह पर 'तवक' हुआ । धियम्=बुद्धि को 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः । ध्यै+क्विप् । वेद=विद्+लट्, 'मि' की जगह 'णल्' । चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु=मनोवृत्तियाँ अनेक रूपवाली होती हैं । चित्तानां वृत्तयः चितवृत्तयः (षष्ठी तत्पुरुष) । विशेषेण चित्राः विचित्राः (प्रादि तत्पुरुष), अतिशयेन विचित्रा इति विचित्ररूपाः । दिचित्रं रूपं यासां ताः विचित्ररूपाः, विचित्ररूपम् (बहुव्रीहि) । परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः=अत्यन्त आपकी विपत्ति के ऊपर विचार करती हुई । पराम्=अत्यधिक । वि+चिन्त्+णिच्+लट्+शतृ+ङीप् । षष्ठी एकवचन । मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति=मेरे मन को व्यथाएँ बलपूर्वक विदीर्ण कर रही हैं । प्रसभम्=प्रगता सभा (विचारः) यस्मात् बलात्, बलपूर्वक । चेतः=चित्+असुन्, चेतति अनेन इति । रुजार्थक धातुओं का कर्म षष्ठी में होता है । 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' । रुज्+लट् लकार; प्रथमपुरुष बहुवचन । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा'—अमरकोश ।

संस्कृतव्याख्या—इमाम्=ईदृशीम्, तावकीम्=त्वदीयाम् (तव इयं तावकी, ताम्), धियम्=बुद्धिम्, न वेद=न जानामि, न ज्ञातुं शक्नोमि । चित्तवृत्तयः=

मनोवृत्तयः, चित्तानां वृत्तयः चित्तवृत्तयः। विचित्ररूपा=अनेकप्रकाराः, खलु=निश्चये भवन्ति। किन्तु पराम्=अत्यधिकाम्, अत्युत्कृष्टाम्। भवदापदम्=तव विपत्तिम्, भवतां शोचनीयां दशाम्, विचिन्तयन्त्या मम=विचारयन्त्या मम द्रौपद्याः, चेतः=चित्तम्, आधयः=मनोव्यथाः, प्रसभम्=बलपूर्वकम्, रुजन्ति=भञ्जन्ति। अहमिमां दुर्दशां पश्यन्ती दुःखिता, भवांस्तु निर्विकारः सन्तुष्ट इव लक्ष्यते।

भाषार्थ—मैं आपकी इस बुद्धि को नहीं समझ पाती। निश्चय ही मनोवृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। किन्तु आपकी महान् विपत्ति पर विचार करती हुई मेरे मन को मनोव्यथाएँ बलात् विदीर्ण करती हैं॥ ३६॥

पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥ ३७॥

अन्वयः—यः (त्वं) महाधनं शयनम् अधिरूढः (सन्) स्तुतिगीतिमङ्गलैः पुरा (वैतालिकैः) विबोध्यसे सः (त्वं) अदभ्रदर्भां स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्रां जहासि।

भावार्थ—युधिष्ठिर के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए द्रौपदी स्वयं उनकी विपत्तिग्रस्त अवस्था की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करती हुई कहती है कि पहले आप मूल्यवान् शय्या पर सोने के बाद स्तुति-गीतों से जगाये जाते थे, अब कुश-कण्टकवाली भूमि पर सोते हैं और सियारिनियों के रोने की आवाज सुनकर जागते हैं।

पदव्याख्या—पुरा=पहले, राजलक्ष्मी से युक्त होने के समय। महाधनं शयनम् अधिरूढः=अत्यन्त मूल्यवान् शय्या पर सोये हुए। महत् धनं यस्य तत् महाधनम् (बहुव्रीहि), शयनम्=शय्या। 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' अमरकोश। अधिरूढः=अधि+रुह्+क्त (कर्तरि) यः स्तुतिगीति-मङ्गलैः विबोध्यसे=जो स्तुतियों और गीत के मङ्गल से जगाये जाते थे, स्तुतयश्च गीतयश्च स्तुतिगीतयः, स्तुतिगीतय एव मङ्गलानि स्तुतिगीतिमङ्गलानि, तैः (द्वन्द्व तथा कर्मधारय समास)। अथवा स्तुतीनां गीतयः स्तुतिगीतयः, ता एव मङ्गलानि तैः, स्तु+क्तिन् (भावे), गै+क्तिन् (भावे)। विबोध्यसे=वि+णिच्+लट्। 'पुरि लुङ् चास्मे' सूत्र के अनुसार यहाँ भूतकाल के अर्थ में लट् लकार का प्रयोग हुआ है, इस सूत्र के अनुसार यदि स्म का प्रयोग न होता हो, तो पुरा के योग में अनद्यतनभूत अर्थ में लट् का प्रयोग होता है। सः अदभ्रदर्भां स्थलीम् अधिशय्य=वह आप प्रचुर कुशवाली भूमि में शयन करके।

अदभ्राः दर्भाः यस्यां सा अदभ्रदर्भा, ताम् (बहुव्रीहि)। स्थलीम्—बिना साफ की गयी, बिना बिस्तर आदि से आच्छादित भूमि पर। अधिशय्य=सोकर, अधि+शीङ्+क्त्वा (ल्यप्)। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र के अनुसार अधि-पूर्वक शीङ् धातु के अधिकरण 'स्थली' में कर्म हुआ और द्वितीया हुई। अशिवैः शिवारुतैः निद्रां जहासि=सियारिनियों के अमङ्गलमय रुदन से निद्रा छोड़ते हैं। अशिव=अमङ्गलमय। न शिवानि अशिवानि, तैः। शिवारुतैः—शिवायाः रुतानि शिवारुतानि, तैः। शिवा का अर्थ है श्रृगाली, 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायु-मृगधूर्त्तकाः' इत्यमरः। जहासि—हा+लट् लकार, मध्यमपुरुष।

संस्कृतव्याख्या—यः=महाराजः, त्वम्। महाधनम्=बहुमूल्यम्, महत् धनं यस्य तत् (बहुव्रीहि)। शयनम्=शय्याम्। 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः। अधिरूढः=शयितः सन्, स्तुतिगीतिमङ्गलैः=स्तोत्रगानाति-मङ्गलैः, स्तुतयो गीतयश्च, ता एव मंगलानि, तैः। पुरा=पूर्वस्मिन् काले। विबोध्यसे=बोधित इत्यर्थः। सः त्वं अदभ्रदर्भाम्=बहुकुशाम्। अदभ्रो दर्भो यस्यां सा अदभ्रदर्भा, ताम्। स्थलीम्=अपरिष्कृतां भूमिम्। अधिशय्य=शयित्वा। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यनेन अधिकरणे कर्म, द्वितीया च। अशिवैः=अमङ्गलकरैः, अमङ्गलैः, शिवारुतैः=श्रृगालीरवैः, शिवायाः रुतानि शिवारुतानि, तैः। निद्रां जहासि=निद्रां त्यजसि।

भाषार्थ—पहले अत्यन्त मूल्यवान् शय्या पर सोये हुए आप जो स्तुतिपरक गीतों के मङ्गलों से जगाये जाते थे, वही आप अब कुशों से भरी हुई नंगी भूमि पर सोकर सियारिनियों के अमङ्गलमय रुदन से निद्रा त्यागते हैं।।३७।।

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः।। ३८ ।।

अन्वयः—(हे) नृप ! यत् एतत् वपुः पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीय-कम् उपनीतम्, वन्यफलाशिनस्ते तत् वपुः अद्य यशसा समं परं कार्श्यं परैति।

भावार्थ—द्रौपदी युधिष्ठिर के क्षीण होनेवाले शरीर की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करती हुई कहती है कि पहले आपका जो शरीर ब्राह्मणों के भोजन के बाद अवशिष्ट अन्न को खाकर पुष्ट था, अब वही फलमूल खाने से क्षीण हो रहा है, और साथ ही आप का यश भी क्षीण हो रहा है।

पदव्याख्या—नृप=हे नृप ! भूपति, पुरा=पहले, राज्य करते समय। रामणीयकम् उपनीतम्=रमणीयता को प्राप्त हुआ था, अर्थात् देखने से

सुन्दर लगता था। रमणीयस्य भावः रामणीयकम्। रम्+अनीयर्=रमणीय। रमणीय+वुञ् (अक्) प्रत्यय=रामणीयकम्। 'योपधात् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' सूत्र से। उप+नी+क्त (कर्मणि)। यत्=जो शरीर। द्विजातिशेषेण अन्धसा=ब्राह्मणों के भोजन के बाद बचे हुए अन्न से, अर्थात् यज्ञ करने के बाद अवशिष्ट अन्न से। द्वे जाती येषां ते द्विजातयः, तेभ्यः शेषः, द्विजातिशेषस्तेन। द्विजाति-भुक्तात् शेषस्तेन। जाति=जन्+क्तिन्। शिष्+घञ्=शेषः। अन्धसा—अद्यते इति अन्धस्, अद्+अस्। तेन। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री स दीदिविः' अमरकोश। तत्=वह शरीर। अद्य=आज, इस विपत्ति की अवस्था में। वन्यफलाशिनः ते=जंगली फलों को खानेवाले तुम्हारा (शरीर), वने भवं वन्यम् (वन्+यत्), वन्यं फलं वन्यफलम् (कर्मधारय)। वन्यफलम् अश्नातीति वन्यफलाशी, तस्य। अश्+णिनि प्रत्यय (कर्तरि)। वपुः यशसा समं परं कार्श्यं परैति=शरीर यश के साथ अत्यन्त कृशता को प्राप्त हो रहा है, अर्थात् शरीर कृश हो रहा है, साथ ही यश भी कम होता जा रहा है। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से समं के योग में यशस् में तृतीया हुई। परम्=अत्यधिक, कार्श्यं=कृशता, क्षीणता, कृशस्य भावः कार्श्यम्। कृश+ष्यञ्। परैति=परा+इ+लट् लकार। प्राप्त होता है, पहुँचता है।

संस्कृतव्याख्या—हे नृप ! यत् एतत् वपुः=पुरो वर्तमानं शरीरम्। पुरा=सिंहासनारूढावस्थायाम्, द्विजातिशेषेण=ब्राह्मणभोजनावशिष्टेन, ब्राह्मणभुक्तात् शेषस्तेन। द्वे जाती येषां ते द्विजातयः। तेभ्यः शेषः। तेन। अन्धसा=अन्नेन भोज्येन। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री स दीदिविः' इत्यमरः। रामणीयकम् उपनीतम्=मनोहरत्वं प्रापितम्। रमणीयस्य भावो रामणीयकम्। नयतेर्द्वि कर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः। वन्यफलाशिनः=अरण्यजातफलमूलभोजिनः, ते=तव युधिष्ठिरस्य, वपुः=शरीरम्। अद्य=अधुना, अस्मिन् विपत्काले। यशसा=कीर्त्या, समम्=सह, परम्=अत्यधिकम्, कार्श्यम्=खिन्नत्वम्, क्षीणत्वम्। परैति=प्राप्नोति। अत्र सहोक्तिरलङ्कारः तल्लक्षणं काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्' इति

भावार्थ—हे महाराज ! आपका जो शरीर पहले ब्राह्मणों के भोजन के बाद बचे हुए अन्न से देखने में मनोहर लगता था, वन में फल मूल खानेवाले आपका वही शरीर आज यश के साथ ही क्षीण हो रहा है। अर्थात् आपका शरीर क्षीण हो रहा है और साथ ही आपका यश भी कम होता जा रहा है।

टिप्पणी—यहाँ दो बातों का एक साथ वर्णन होने के कारण सहोक्ति नाम का अलंकार है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में सहोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्'॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्॥ ४०॥

अन्वयः—(प्राक्) राजशिरःस्रजां रजः अनारतं मणिपीठशायिनौ यौ ते चरणौ अरञ्जयत् तौ (अद्य) मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषां वनेषु निषीदतः।

भावार्थ—द्रौपदी युधिष्ठिर को विपत्ति का ध्यान दिलाकर उनके क्रोध को उत्तेजित करने के लिए कहती है कि आपके इन चरणों को पहले राजाओं के सिर की मालाओं का पराग रञ्जित करता था, अब ये कुशों के जंगल में रहते हैं।

पदव्याख्या—अनारतम्=निरन्तर। अविद्यमानम् आरतं यस्मिन्, जिसमें रुकावट न हो, (श्लोक १५ देखिए)। आ+रम्+क्त प्रत्यय। 'सततानारताश्रान्तसन्ततविरतानिशम्' अमरकोश। यौ मणिपीठशायिनौ=जो मणि की गद्दी पर रखे जाते थे। मणिनिर्मितं पीठं मणिपीठम्। तस्मिन् शयाते इति मणिपीठशायिनौ। शी+णिनि (कर्तरि) 'रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च' इत्यमरः। अरञ्जयत्=रंगता था, रंजित करता था। रञ्ज+णिच्+लङ् लकार। राजशिरःस्रजां रजः=राजाओं के सिरों की मालाओं का पराग। राज्ञां शिरांसि राजशिरांसि, राजशिरस्थाः स्रजः राजशिरःस्रजः, तासाम्। रजः=परागः। रञ्ज्+असुन् प्रत्यय। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः' अमरकोश। निषीदतः=कष्ट पा रहे हैं। नि+सद्+लट्, अथवा नि+सीद्+लट् लकार। 'चरणों' के लिए आया है। तौ चरणौ=वे दोनों चरण। "पादाग्रं प्रपदं पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' अमरकोश। वनेषु=वनों में। ते=तुम्हारे। मृगद्विजालूनशिखेषु=मृगों और ब्राह्मणों के द्वारा जिनके अग्रभाग तोड़े गये हैं। ('वनेषु' का विशेषण)। मृगाश्च द्विजाश्च मृगद्विजाः, तैः आलूनाः, मृगद्विजालूनाः शिखाः येषु तानि मृगद्विजालूनशिखानि, तेषु (क्रमशः द्वन्द्व, तृतीया तत्पुरुष, बहुव्रीहि समास)। वस्तुतः इसे 'बर्हिषां' का विशेषण होना चाहिए था किन्तु यहाँ यह 'वनेषु' का विशेषण है। बर्हिषाम्—कुशों के। 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः।

संस्कृतव्याख्या—प्राक्। राजशिरःस्रजां रजः=नमद्भूपालमौलिस्रजां

परागः। राज्ञां शिरांसि राजशिरांसि, तेषां स्रजः राजशिरःस्रजः, तासाम्। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। अनारतम्=निरन्तरम्, अविद्यमानम् आरतं यस्मिन्। 'सततानारताश्रान्तसन्ततविरतानिशम्' इत्यमरः। मणिपीठशायिनौ=रत्नमयपादपीठस्थायिनौ। मणिनिर्मितं पीठं मणिपीठम्, तस्मिन् शयते इति मणिपीठशायिनौ। 'रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च' इत्यमरः। यौ ते चरणौ=यौ भवताम् पादौ। अरञ्जयत्=रञ्जितवत्, तौ तव चरणौ अद्य=अधुना, अस्मिन् विपत्काले। मृगद्विजालूनशिखेषु=हरिणयज्ञकर्मरतब्राह्मलुञ्चिताग्रेषु। मृगाश्च द्विजाश्च मृगद्विजाः, तैः आलूनाः शिखाः येषु तानि, तेषु। बर्हिषां वनेषु=कुशानां विपिनेषु, निषीदतः=तिष्ठतः। 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः।

भावार्थ—मणि के पादपीठ पर रखे गये आपके जिन चरणों को (प्रणाम करनेवाले) राजाओं के सिर की मालाओं का पराग रंगता था, वे ही चरण आज कुशों के इन वनों में रखे जाते हैं, जिनके अग्रभाग मृगों तथा ब्राह्मणों द्वारा तोड़ लिए गये हैं ॥ ४० ॥

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यत् इयं दशा द्विषन्निमित्ता ततः मे मनः समूलम् उन्मूलयति इव। परैः अपर्यासितवीर्यसम्पदां मानिनां पराभवः अपि उत्सव एव।

भावार्थ—युधिष्ठिर की शोचनीय स्थिति पर दुःख करती हुई द्रौपदी उनसे कहती है कि आपकी इस दशा के कारण शत्रु हैं, इस कारण मेरा मन समूल उखड़-सा रहा है। जिस मानी की शक्ति का शत्रुगण दमन नहीं कर पाते, उसकी पराजय भी उत्सव के समान ही होती है।

पदव्याख्या—द्विषन्निमित्ता=जिसके कारण शत्रु हैं, शत्रु द्वारा उत्पादित ('दशा' का विशेषण), द्विषन्तः निमित्तं यस्याः सा (बहुव्रीहि)। इयं दशा द्विषन्निमित्ता=यह दशा शत्रुओं ने की है। ततः=इस कारण। मे मनः समूलम् उन्मूलयति इव=मेरे मन को मूल सहित उखाड़-सी रही है, मानो मेरे मन को जड़ के साथ उखाड़ रही है (उत्प्रेक्षालंकार), मूलेन सह वर्तमानं समूलं तद्यथा स्यात्तथा। उन्मूलयति=उद्+मूल् (चुरादि) +णिच्+लट् लकार। परैः=शत्रुओं के द्वारा। अपर्यासितवीर्यसम्पदाम्=जिनका पराक्रम और सम्पत्ति समाप्त नहीं की गयी है। न पर्यासिता अपर्यासिता (नञ्

तत्पुरुष)। वीरस्य भावः कर्म वा वीर्यम्, वीर्यं च सम्पच्च वीर्यसम्पदौ अथवा वीर्यमेव सम्पद्। अविपर्यासिते वीर्यसम्पदौ येषां ते, तेषाम्। अथवा अपर्यासिता वीर्यसम्पद् येषां ते अपर्यासितवीर्यसम्पदः;, तेषाम् (बहुव्रीहि, मानिनाम् का विशेषण)। मानिनाम्=मानियों का, मनस्वियों का (मानः अस्ति येषां ते मानिनः, तेषाम्), मान+इनि। पराभवः अपि उत्सवः एव=पराजय भी उत्सव ही है; 'पराभवः परिभवः पराजय इतीर्यते' 'अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः' अमरकोश।

संस्कृतव्याख्या—यत्=यस्मात्कारणात्। इयं दशा=विद्यमाना शोचनीया अवस्था। 'दशा वार्त्तावस्थायाम्' इति विश्वः। द्विषन्निमित्ता=शत्रुकृता, 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा। ततः=तस्मात् कारणात्। मे मनः=मे चित्तम् 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। समूलम्=साशयम्, मूलेन सह वर्तमानम्, समूलं तद्यथा स्यात्तथा। उन्मूलयति इव=उत्पादयति इव। परैः=शत्रुभिः। अपर्यासितवीर्यसम्पदां मानिनाम्=अपर्यावर्तितपौरुषधनानाम्। न पर्यासिता अपर्यासिताः, वीरस्य भावः कर्म वा वीर्यम्, वीर्यं च सम्पच्च वीर्यसम्पदौ, अपर्यासिते वीर्यसम्पदौ येषां ते अपर्यासितवीर्यसम्पदः, तेषाम्=मनस्विजनानाम्, मानः अस्ति येषां ते मानिनः, तेषाम्। पराभवः अपि उत्सव एव=पराजयोऽपि हर्षोदय एव भवति। 'पराभवः परिभवः पराजय इतीर्यते' 'अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः' इति चामरः। वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः।

भावार्थ—आपकी यह दशा शत्रुओं के कारण है, इसलिए मेरा मन समूल उखड़ सा रहा है। जिन मनस्वी जनों की पराक्रम रूपी सम्पत्ति (अथवा पराक्रम और शक्ति) शत्रु द्वारा समाप्त नहीं होती, उसके लिए पराजय भी उत्सव ही है (अर्थात् वे पराजय सहन कर सकते हैं, मान की हानि नहीं)।

टिप्पणी—(१)-दूसरी पंक्ति में अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः'। (२) दूसरे चरण में 'म' की कई बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास भी है॥ ४१॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥ ४२॥

अन्वयः—(हे) नृप ! शान्तिं विहाय विद्विषां वधाय तत् (क्षात्रं) धाम

पुनः सन्धेहि । निःस्पृहाः मुनयः शत्रून् (षड्रिपून्) अवधूय शमेन सिद्धि (मोक्ष-सिद्धि) व्रजन्ति, भूभृतः शमेन (राज्यसिद्धि) न व्रजन्ति ।

भावार्थ—द्रौपदी युधिष्ठिर को शत्रु के प्रति क्षत्रियोचित प्रतीकार करने के लिए प्रेरित करती हुई कहती है कि आप शान्ति का मार्ग छोड़कर शत्रुओं के वध के लिए क्षत्रियोचित तेज धारण कीजिए । मुनि लोग ही निःस्पृह होकर शान्ति के द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं, राजा नहीं ।

पदव्याख्या—शान्ति विहाय=शान्ति को छोड़कर । शम्+क्तिन्=शान्तिः । वि+हा+क्त्वा (ल्यप्) । नृप=हे नृप ! तत् धाम=उस तेज को, क्षत्रियों के पराक्रम को । दधाति धीयते वा धाम । पुनः सन्धेहि=फिर धारण कीजिए, सम्+धा+लोट् लकार, म० पुरुष । विद्विषां वधाय=शत्रुओं के वध के लिए । हन्+अप् (भावे)=वधः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' सूत्र से चतुर्थी हुई । प्रसीद=प्रसन्न होइए । प्र+सद्+लट् लकार, मध्यम पु० । शत्रून् अवधूय=शत्रुओं को जीतकर । शातयन्ति इति शत्रवः (शद्+त्रु), मुनि के पक्ष में काम, क्रोध आदि मनोविकार रूपी शत्रुओं को, अव+धू+क्त्वा (ल्यप्)=जीतकर । युधिष्ठिर के सन्दर्भ में=ध्यान न देकर, उपेक्षा करके । निःस्पृहाः=निष्काम, इच्छारहित । निरस्ता स्पृहा येषां ते निःपृहाः, स्पृहाः=स्पृह्+अङ् (भावे, मुनयः का विशेषण) । मुनयः शमेन सिद्धि व्रजन्ति=मुनि लोग शान्ति के द्वारा सिद्धि तक पहुँचते हैं, संयम के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करते हैं । व्रज्+लट् लकार । सिद्धिः=सिध्+क्तिन् (भावे) । 'शमनस्तु शमः शान्तिः' इत्यमरः । न भूभृतः=राजा लोग शान्ति के मार्ग से विजय रूपी सिद्धि नहीं प्राप्त करते ।

संस्कृतव्याख्या—हे नृप ! =हे राजन् ! शान्ति विहाय=क्षमां त्यक्त्वा । विद्विषां वधाय=शत्रूणां विनाशाय । पुनः तत् धाम सन्धेहि=पुनः तत् प्रसिद्धं क्षात्रतेजः अङ्गीकुरु । निःस्पृहाः=निष्कामाः, निरस्ताः स्पृहाः येषां ते । मुनयः=संयमिनः, 'वाचंयमो मुनिः'—अमरकोशः । शत्रून्=कामक्रोधादीन् षड्-रिपून् । अवधूय=जित्वा, शमेन=शान्त्या, सिद्धिम्=मोक्षसिद्धिम्, व्रजन्ति=गच्छन्ति, यान्ति वा । भूभृतः=राजानः । शमेन=शान्त्या, सिद्धिम्=राज्य-सिद्धिम्, न व्रजन्ति=न यान्ति ।

भावार्थ—हे महाराज ! शान्ति को छोड़कर शत्रुओं के वध के लिए उस (क्षत्रियोचित) तेज को पुनः धारण कीजिए । प्रसन्न होइए (अर्थात् खिन्नता

छोड़कर उत्साहयुक्त होइए)। निष्काम मुनिलोग ही (काम-क्रोधादि) शत्रुओं को जीतकर संयम द्वारा मोक्ष सिद्धि प्राप्त करते हैं, शत्रुओं की उपेक्षा करके शान्ति से राजागण राज्यसिद्धि नहीं प्राप्त करते ॥ ४२ ॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

अन्वयः—धामवतां पुरःसरा यशोधनाः भवादृशाः सुदुःसहम् ईदृशं निकारं प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत्, हन्त ! मनस्विता निराश्रया (सती) हता ।

भावार्थ—युधिष्ठिर को पराजय का प्रतीकार करने के लिए उत्तेजित करती हुई द्रौपदी कहती है कि यदि आप तेजस्वियों में अग्रणी होकर और यशस्वी होकर भी इस पराजय से सन्तोष कर लेते हैं, तो मनस्विता समाप्त ही हो गयी।

पदव्याख्या—धामवतां पुरःसराः=तेजस्वियों में अग्रणी। धाम अस्ति एषामिति। धामन्+मतुप्। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' सूत्र से 'मतुप्' के स्थान पर 'वतुप्'। पुरःसराः=पुरः सरन्तीति पुरःसराः, पुरम्+सृ+ट प्रत्यय कर्तरि (भवादृशाः का विशेषण)। 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' से ट प्रत्यय। यशोधनाः=यशस्वी, यश ही जिनका धन है। यश एव धनं येषां ते (बहुव्रीहि, भवादृशाः का विशेषण)। ईदृशम् सुदुःसहं निकारं प्राप्य=इस प्रकार का अत्यन्त दुःसह अपमान प्राप्त कर। सुदुःसहम्=दुर्+सह्+खल्=दुःसहम्। अतिशयेन दुःसहं सुदुःसहम्। निकारम्=अपमान, पराजय, निकृष्टीकरण, नि+कृ+घञ्। प्राप्य=प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। भवादृशाः=आप जैसे, (देखिए श्लोक २८)। चेद् रतिम् अधिकुर्वते=यदि सन्तोष कर लेते हैं। रतिम् से यहाँ सन्तोष से तात्पर्य है। अधिकुर्वते=अधि+कृञ्+लट् लकार, बहुवचन। हन्त ! मनस्विता निराश्रया हता=खेद है कि मनस्विता आश्रयहीन होकर समाप्त हो गयी। मनस्विता को आश्रय देनेवाला कोई नहीं होगा और वह समाप्त हो जायेगी। मनस्विता=प्रशस्तं मनोऽस्य अस्तीति मनस्वी, तस्य भावः मनस्विता, मनस्+विनि, मनस्वी। मनस्विन्+तल्+टाप्। निराश्रया=निर्गतः आश्रयो यस्याः साः। हता=हन्+क्त+टाप्=मार डाली गयी, मर ही चुकी, समाप्त हो चुकी।

संस्कृतव्याख्या—धामवतां पुरःसराः=तेजस्विनाम् अग्रेसराः, पुरः सरन्तीति पुरःसराः। यशोधनाः=कीर्तिधनाः, यश एव धनं येषां ते। भवादृशाः=त्वादृशाः, सुदुःसहम्=अतिशयेन दुःसहम्। ईदृशम्=उक्तप्रकारम्।

निकारम्=पराभवम्, निकृष्टीकरणम् 'निकारो हि तिरस्कारोऽपमानश्च पराभवः' इति कोशः। प्राप्य=लब्ध्वा। रतिमधिकुर्वते चेत्=सन्तोषं स्वीकुर्वते चेत्, तर्हि हन्त=खेदे, मनस्विता=अभिमानता, प्रशस्तं मनोऽस्य अस्तीति मनस्वी, तस्य भावः मनस्विता, मनस्+विनि, मनस्वी+तल्+टाप्। निराश्रया= आश्रयहीनता सती, निर्गतः आश्रयः यस्याः सा। हता=नष्टा, मृतेति यावत्।

भावार्थ—तेजस्वियों में अग्रणी, यश को सर्वत्र माननेवाले आप जैसे व्यक्ति इसी प्रकार के अत्यन्त दुःसह अपमान (या पराजय) को प्राप्त कर सन्तोष कर लें, तो खेद है कि मनस्विता आश्रयहीन होकर नष्ट हो चुकी (अर्थात् अब कोई मनस्वी नहीं रह जायगा) ॥ ४३ ॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अथ निरस्तविक्रमः (सन्) चिराय क्षमाम् एव सुखस्य साधनं पर्येषि, (तर्हि) लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं विहाय जटाधरः (सन्) इह पावकं जुहुधि।

भावार्थ—युधिष्ठिर की क्षमा और शान्ति की नीति की आलोचना करती हुई द्रौपदी कहती है कि यदि पराक्रमहीन होकर आप क्षमा को ही सुख का साधन मानते हैं, तो इस धनुष को फेंक दीजिए, जटाधारण करके तपस्वियों की तरह बैठकर अग्नि में हवन कीजिए।

पदव्याख्या—अथ=इतने पर भी, अब भी, यदि। निरस्तविक्रमः= पराक्रमहीन होकर, निरस्तः विक्रमः येन सः। तात्पर्य यह है कि आपके पास विक्रम तो है किन्तु उसका आश्रय लेना नहीं चाहते। निर्+अस्+क्त। वि+क्रम+घञ्। क्षमाम् एव=क्षमा को ही, शान्ति को ही। 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। चिराय सुखस्य साधनं पर्येषि=चिरकाल तक सुख का साधन मानते हो। पर्येषि=परि+इ+लट् लकार, मध्यमपु०। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः। लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मकं विहाय=राजलक्ष्मी के स्वामी अर्थात् राजा के चिह्न धनुष को छोड़कर। लक्ष्म्याः पतिः लक्ष्मीपतिः, तस्य लक्ष्म, तत् लक्ष्मीपतिलक्ष्म (कार्मुक का विशेषण) कार्मुकं=धनुष, कर्मन्+उकञ् प्रत्यय। 'शरासनं कार्मुकं च चापं धनुरपीर्यते' इत्यमरः। विहाय =वि+हा+क्त्वा (ल्यप्)। जटाधरः सन् इह पावकं जुहुधि=जटाधारी होकर यहीं वन में अग्नि में हवन करो। धरतीति धरः, धृ+अच्, जटायाः

धरः जटाधरः। अर्थात् तपस्वी बनकर। पावकम्=पुनाति इति पावकः, तम्। पू+ण्वुल् (अक)। जुहुधि=हु+लोट् लकार, मध्यमपु० एकवचन।

संस्कृतव्याख्या—अथ=यदि पक्षान्तरे। निरस्तविक्रमः सन्=पराक्रमहीनः सन्, निरस्तः विक्रमः येन सः। चिराय=चिररात्राय, 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः। क्षमामेव=शान्तिमेव, 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। सुखस्य साधनम्=आनन्दस्य कारणम्, पर्यैषि=जानासि, अवगच्छसि। तर्हि, लक्ष्मीपतिलक्ष्म=राजचिह्नम्, लक्ष्म्याः पतिः लक्ष्मीपतिः, तस्य लक्ष्म लक्ष्मीपतिलक्ष्म, तत्। कार्मुकम्=धनुः 'शरासनं कार्मुकं च चापं धनुरपीर्यते' इत्यमरः। विहाय=परित्यज्य, दूरीकृत्य। जटाधरः सन्=जटाधारी भूत्वा। इह=अस्मिन् वने। पावकम्=अग्निम्, जुहुधि=होमं कुरु।

भावार्थ—यदि पराक्रमहीन होकर चिरकाल तक क्षमा को ही सुख का साधन मानते हैं, तो राजा के चिह्न धनुष को छोड़कर जटा धारण कर इस वन में अग्नि में हवन कीजिए।

टिप्पणी—'लक्ष्मीपतिलक्ष्म' में छेकानुप्रास है, अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से। 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' ॥ ४४ ॥

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधिसन्धिदूषणानि ॥४५॥

अन्वयः—परेषु निकृतिपरेषु सत्सु भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षणं न क्षमम्, हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधिसन्धिदूषणानि विदधति।

भावार्थ—कूटनीति का मार्ग अपनाने की प्रेरणा देती हुई द्रोपदी युधिष्ठिर से कहती है कि आप जैसे तेजस्वी को समझौते के अनुसार प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। विजय चाहनेवाले राजा किसी भी बहाने से सन्धि को तोड़ देते हैं।

पदव्याख्या—ते समयपरिरक्षणं न क्षमम्=आपके लिए समय की अर्थात् तेरह वर्ष की शर्त की प्रतीक्षा करना उचित नहीं है, सन्धि की रक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। समयस्य परिरक्षणं समयपरिरक्षणम्। समय—सम्+इ+अन् (भावे)। परिरक्षणम्—परि+रक्ष्+ल्युट् (भावे)। क्षमम्–क्षमते इति, क्षम्+अच् (भावे)। निकृतिपरेषु परेषु=शत्रुओं के अपकार करने में संलग्न होने पर। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी। निकृतिः परं येषां ते निकृतिपराः, (बहुव्रीहि) तेषु। भूरिधाम्नः=महान् तेजस्वी, भूरि धाम यस्य स भूरिधामा (बहुव्रीहि)। इस विशेषण से यह द्योतित किया गया है कि

युधिष्ठिर में शत्रु से प्रतीकार करने की भावना है। अरिषु=शत्रुओं पर, शत्रुओं के सम्बन्ध में, शत्रुओं के साथ। विजयार्थिनः क्षितीशाः=विजय चाहनेवाले राजा। विजयम् अर्थयन्ते इति विजयार्थिनः, वि+जि+अच् (भावे)=विजयः। विजय+अर्थ+णिनि (कर्तरि)। क्षितेः ईशाः क्षितीशाः। सोपधिसन्धि-दूषणानि विदधति=छलपूर्वक सन्धि में दोष उत्पन्न कर सन्धि को भंग कर देते हैं। उपधीयते इति उपधिः। उप+धा+कि (भावे), तेन। उपधिना सह वर्तमानम्। (बहुव्रीहि)। तद्यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषण)। सन्धेः दूषणानि सन्धिदूषणानि (षष्ठी तत्पुरुष), तानि। सम्+धा+किः—सन्धिः। दूषणम्—दुष्+णिच्+ल्युट् (भावे)।

संस्कृतव्याख्या—परेषु निकृतिपरेषु=निराकरणतत्परेषु। निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु तथोक्तेषु, अपकारतत्परेषु सत्सु। भूरिधाम्नः=महातेजसः। भूरि धाम यस्य स भूरिधामा, तस्य। ते=तव युधिष्ठिरस्य, समयपरिरक्षणम्=कालप्रतीक्षाकरणम्। समयस्य परिरक्षणं समयपरिरक्षणम्, 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। न क्षमम्=नोचितम्। हि=यस्मात् कारणात्। विजयार्थिनः=शत्रुपराजयेच्छुकाः, विजयम् अर्थयन्ते इति विजयार्थिनः। क्षितीशाः=नराधिपाः, भूपतयः। परेषु=शत्रुषु। सोपधि=सकपटम्, यथा तथा। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्म कैतवे' इत्यमरः। सन्धि-दूषणानि=सन्धिच्छिद्राणि। सन्धेः दूषणानि, तानि। विदधति=कुर्वन्ति। केनापि कपटेन सन्धि दूषयन्ति। अत्र अर्थान्तरन्यासालंकारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम्।

भावार्थ—जब शत्रु अपकार में लगे हुए हैं, तब आपको समय की प्रतीक्षा करते रहना उचित नहीं है। विजय चाहनेवाले राजा-गण शत्रुओं के साथ सन्धि में बलपूर्वक दूषण उत्पन्न करते हैं, अर्थात् सन्धि को भंग कर देते हैं।

टिप्पणी-(१) यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। विशेष कथन का सामान्य-कथन द्वारा समर्थन किया गया है। 'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्य-विशेषयोः।

(२) परेषु परेषु में यमक अलंकार है।

(३) इस पद्य का छन्द पुष्पिताग्रा है, उसका लक्षण है—'अयुजि नयुग रेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।'

प्रथम तथा तृतीय चरणों में—नगण, नगण, रगण, यगण

।।। ।।। ऽ।ऽ ।ऽऽ

द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में—नगण, जगण, जगण, रगण, गुरु

।।। ।ऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ ऽ॥ ४५ ॥

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नं दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुं रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानं त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु ।

भावार्थ—अन्त में द्रौपदी यह शुभकामना करती है कि विपत्ति के इस दुःखमय सागर से निकले हुए आपको लक्ष्मी उसी प्रकार प्राप्त हो और शत्रु उसी प्रकार नष्ट हो, जैसे रात्रि के बाद सूर्य अपने वैभव के साथ उदित होता है और अन्धकार दूर हो जाता है ।

पदव्याख्या—विधिसमयनियोगात्—विधाता और समय के नियम के कारण, विदधातीति विधिः । विधिश्च समयश्च विधिसमयौ, तयोः नियोगः विधिसमयनियोगः, तस्मात्, 'हेतौ पञ्चमी' हेतु के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । अर्थात् विधाता और काल का उल्लंघन संभव न होने के कारण । वि+धा+कि=विधिः । नि+युज्+घञ्=नियोगः । दीप्तिसंहारजिह्मम्—(१) प्रकाश के नष्ट हो जाने से मन्द, (२) प्रताप के नष्ट हो जाने से दुःखी, दीप्तेः संहारः दीप्तिसंहारः, तेन जिह्मः दीप्तिसंहारजिह्मः, तम् । इसके दो अर्थ क्रमशः सूर्य और राजा युधिष्ठिर के पक्ष में होंगे । दीप्+क्तिन् (भावे)—दीप्ति । सम्+हृ+घञ्+(भावे)—संहारः । जिह्म का मौलिक अर्थ टेढ़ा है । शिथिलवसुम्—(१) जिसकी किरणें मन्द पड़ गयी हैं, (२) जिसकी समृद्धि कम हो गयी है, शिथिलं वसु यस्य सः शिथिलवसुः (बहुव्रीहि), तम् । शिथिला वसवः यस्य सः, तम् । 'वसु देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम्—अथाह विपत्तिरूपी समुद्र में डूबे हुए । गाध्यते इति गाधः=गाध+घञ् (कर्मणि) । न गाधः अगाधः (नञ् तत्पुरुष), तस्मिन् । आपत् पयोधिरिव आपत्पयोधिः (उपमित समास), तस्मिन् । मज्ज्+क्त=मग्नम् । दूसरे पक्ष में—आपद्भूतः पयोधिः, तस्मिन् । रिपुतिमिरम् उदस्य—अन्धकाररूपी शत्रु को दूर कर, शत्रुरूपी अन्धकार को दूर कर । रिपुः तिमिरम् इव रिपुतिमिरम्, तम् । रिपुभूतं तिमिरम् । उदस्य=उद्+अस्+क्त्वा (ल्यप्), संहार करके, दूर करके ।

उदीयमानम्=उगते हुए, उन्नति प्राप्त करते हुए, विजय प्राप्त करते हुए, उद्+ईङ्+लट्+शानच् (कर्तरि)। दिनादौ=दिन के आरम्भ में, प्रातःकाल। दिनस्य आदिः दिनादिः, तस्मिन्। दिनकृतम् इव त्वां लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु=दिनकर की तरह तुम्हें लक्ष्मी पुनः प्राप्त होवे। दिनं करोतीति दिनकृत्, दिन+कृ+क्विप्। लक्ष्मी (१) प्रकाश—सूर्य के पक्ष में (२) राजलक्ष्मी—युधिष्ठिर के पक्ष में। समभ्येतु=सम्+अभि+इ+लोट् लकार, आवे, समीप आवे।

संस्कृतव्याख्या—विधिसमयनियोगात्=दैवकालनियमाद्धेतोः (हेतौ पञ्चमी) 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। विधिश्च समयश्च विधिसमयौ, तयोः नियोगः, विधिसमयनियोगः, तस्मात्। अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम्=दुस्तरे विपत्तिवारिधौ निमज्ज्यमानम्, आपत् पयोधिरिव आपत्पयोधिः, तस्मिन्। दीप्तिसंहारजिह्मम्=प्रतापनाशमन्दः, दीप्तेः संहारः दीप्तिसंहारः, तेन जिह्मः दीप्तिसंहारजिह्मस्तम्। शिथिलवसुम्=शिथिलधनम् 'वसु देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। रिपुतिमिरम्=शत्रुरूपान्धकारम्, रिपुस्तिमिरमिव। उदस्य=निरस्य, उदीयमानम्=उन्नत्यभिमुखगमनशीलम्। त्वां=युधिष्ठिरम्। लक्ष्मीः=राजलक्ष्मीः। दिनादौ=प्रातः, दिनस्य आदिः दिनादिः, तस्मिन्। विधिसमयनियोगात्=दैवकालनियमात् हेतोः, अगाधे आपत्पयोधौ=दुस्तरे अस्तसमुद्रे, मग्नम्=निमज्ज्यमानम्, दीप्तिसंहारजिह्मम्=प्रकाशमन्दम्, शिथिलवसुम्=मन्दप्रकाशम्, शिथिलरश्मिम्, रिपुतिमिरम्=शत्रुभूतमन्धकारम्, रिपुभूतं तिमिरम्, उदस्य=निरस्य, उदीयमानम्=उद्यन्तम्, दिनकृतम्=दिनकरम्, दिनं करोतीति दिनकृत्, तम्। लक्ष्मीः=तेजः, श्रीः इव, पुनः समभ्येतु=पुनरपि भजतु। 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट्। चमत्कारितया मङ्गलाचरणरूपया च सर्गान्तश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः। अत्र पूर्णोपमा, श्लिष्टा। मालिनीवृत्तम्। सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः। 'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।' इति।

भावार्थ—भाग्य और (तेरह वर्ष के) समय के नियम के कारण अपार विपत्तिरूपी समुद्र में डूबे हुए, प्रताप के नाश के कारण मन्द, अल्प धनवाले, शत्रुरूपी अन्धकार को नष्ट कर उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले आपको राज्यलक्ष्मी पुनः उसी प्रकार प्राप्त होवे, जिस प्रकार विधाता और काल के नियम के कारण विपत्तिभूत समुद्र में डूबे हुए, किरणों के नष्ट हो जाने से मन्द, अल्पप्रकाशवाले, शत्रुभूत अन्धकार को दूर कर आकाश में ऊपर उगनेवाले सूर्य को प्रकाश की शोभा प्राप्त होती है।

टिप्पणी—(१) इस पद्य में श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमालंकार है। उपमेय तथा उपमान का अनेक श्लिष्ट विशेषणों द्वारा वर्णन किया गया है, जिनके अर्थ दोनों पक्षों में होते हैं।

(२) इस पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग है। 'किरातार्जुनीयम्' के सभी सर्गों के अन्तिम पदों में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग है। यह काव्य-कला का चमत्कार भी है और मङ्गलसूचक भी। इसी का अनुकरण कर माघ ने शिशुपालवधम् में 'श्री' शब्द का व्यवहार किया है।

(३) सर्ग का अन्तिम पद्य होने से इसका छन्द भिन्न है। इस सम्बन्ध में दण्डी का नियम है—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्॥' इस पद्य का वृत्त मालिनी है, जिसका लक्षण है—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।' प्रत्येक चरण में नगण (।।।), नगण (।।।), मगण (SSS), यगण (।SS), यगण (।SS) तथा आठ और सात अक्षरों पर यति होती है॥ ४६॥

प्रथम सर्ग की सूक्तियाँ

१. न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥ २॥
२. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥ ४॥
३. सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥ ५॥
४. समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥ ८॥
५. अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता॥ २३॥
६. परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः॥ २५॥
७. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥ ३०॥
८. अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥ ३३॥
९. विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः॥ ३७॥
१०. परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥ ४१॥
११. व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥ ४२॥
१२. अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधिसन्धिदूषणानि॥ ४५॥

प्रश्न और परामर्श

'किरातार्जुनीयम्' पर परीक्षा में दो प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। एक—पाठ्यसामग्री से सम्बन्धित, दूसरे कवि और काव्य की आलोचना से सम्बद्ध। इनमें भी प्रथम प्रकार के अन्तर्गत चार प्रकार के प्रश्न होते हैं—१. हिन्दी में प्रसंगनिर्देशपूर्वक व्याख्या, २. संस्कृत में व्याख्या, ३. हिन्दी में अनुवाद, ४. सूक्तियों की व्याख्या।

१. हिन्दी-व्याख्या के अन्तर्गत प्रसङ्ग का पहले निर्देश करना चाहिए, किन्तु उसके निर्देश की शैली उचित हो। लम्बे विशेषण लगाकर कवि या काव्य का उल्लेख अथवा 'हमारी पाठ्यपुस्तक से उद्धृत किया गया है' जैसे वाक्य का प्रयोग निम्नस्तर की शैली है, उसका परित्याग करना श्रेयस्कर होता है। व्याख्या के अन्तर्गत अर्थ को स्पष्ट करने के लिए समासों का विग्रह, अलंकारों, वृत्तों का निर्देश भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। उस पद्य के विषय में कोई विशेष बात हो, तो उसे टिप्पणी करें।

२. संस्कृत में व्याख्या करने के लिए पहले अन्वय करने का प्रयत्न करें। कर्त्ता, कर्म, क्रिया को ढूंढ़कर तथा समान लिङ्ग, वचन, विभक्ति को देखकर उनके अर्थात् कर्ता, कर्म के विशेषणों को उनसे पहले रखकर आप सरलता से अन्वय कर सकते हैं। इसके बाद प्रत्येक शब्द को लेकर टीका पद्धति से उसका पर्यायवाची, समासविग्रह, व्याकरण दीजिए। यदि अमरकोश की कोई पंक्ति उस शब्द के सन्दर्भ में याद हो तो उसे भी दीजिए। अन्त में एक वाक्य में उसके अस्पष्ट भाव को संस्कृत में स्पष्ट कीजिए। अलंकार तथा वृत्त का निर्देश भी संस्कृत में कीजिए।

३. हिन्दी-अनुवाद में केवल अनुवाद पूछा जाय, तो प्रसंग आदि न लिखें। अनुवाद में हिन्दी भाषा पर भी ध्यान रखें। यथासम्भव शब्दशः अनुवाद करते हुए भी जहाँ अर्थ को स्पष्ट करने के लिए परिवर्तन जरूरी हो, वहाँ हिन्दी की शैली अपनाकर परिवर्तन करें। कर्मवाच्य की अपेक्षा कर्तृवाच्य का प्रयोग करें।

इस सर्ग में व्याख्या तथा अनुवाद की दृष्टि से निम्नलिखित संख्या वाले पद्य महत्त्वपूर्ण हैं, प्रायः परीक्षाओं में पद्य पूछे गये हैं, इन पर ध्यान दें—
३, ५, ९, ११, १२, १६, २४, ३०, ३७, ३८, ३९, ४१, ४४।

४. सूक्तियों की व्याख्या करने के लिए प्रसंग का निर्देश करके उसके भाव को समझाइए। इस सर्ग की सूक्तियों को पृ० ७० पर संकलित कर दिया गया है।

आलोचनात्मक प्रश्नों के अन्तर्गत भी तीन प्रकार के प्रश्न आते हैं—

१. कवि के विषय में—

(१) भारवि के काव्यगुणों की समीक्षा कीजिए।

(२) कविता के क्षेत्र में भारवि का मूल्यांकन कीजिए।

(३) भारवि के अर्थगौरव पर टिप्पणी लिखिए—'भारवेरर्थगौरवम्'

(४) भारवि की त्रुटियों का निर्देश कीजिए।

(५) भारवि की भाषा और शैली पर निबन्ध लिखिए।

[इन सभी प्रश्नों के उत्तर भूमिका में 'कवि और काव्य की समीक्षा' के अन्तर्गत मिलेंगे।]

२. कवि के स्थिति-काल पर—

भारवि की तिथि पर एक लघु निबन्ध लिखिए।

[इसका उत्तर भूमिका में देखिए]

३. काव्य के विषय में—

(१) महाकाव्य के रूप में किरातार्जुनीयम् का विवेचन कीजिए।

(२) 'भारवि ने शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों का स्थापना किया।' स्पष्ट करें।

[इनका उत्तर भूमिका में 'काव्य', 'महाकाव्य' तथा 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के रूप में शीर्षकों के अन्तर्गत देखिए।]

(३) द्रौपदी द्वारा उपस्थापित युक्तियों का वर्णन कीजिए।

(४) वनेचर ने दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था का जो विवरण दिया है, उसे अपनी भाषा में लिखिए।

[इनका उत्तर भूमिका में 'प्रथमसर्ग का वर्ण्य विषय' के अन्तर्गत देखिए।]

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तरात्मक ग्रन्थ

साहित्यदर्पणालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजी लाल शर्मा
काव्यप्रकाश-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री रामजी लाल शर्मा
चन्द्रालोक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । [illegible] तथा [illegible]
शिशुपालवध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–४ सर्ग । अशोकचन्द्र गौड़
सांख्यकारिकादर्शः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठारी
[illegible]स्थेतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्रीपरमेश्वरदीन पाण्डेय
नलचम्पू-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–२ उच्छ्वास । परमेश्वरदीन पाण्डेय
वेदान्तसार-प्रदीपः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठारी
मध्यसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमिश्र शास्त्री
मृच्छकटिक-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
वेणीसंहार-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री परमेश्वरदीन पाण्डेय
नैषध-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) १–५ सर्ग । श्री रमाशंकर मिश्र
दशरूपक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्री त्रिलोकीनाथ द्विवेदी
भट्टिकाव्य-दर्पणः । स्वामी प्रज्ञाभिक्षु १–४ सर्ग २५–००, ५–८ सर्ग
भट्टिकाव्यालोकः डॉ० रमाशंकर मिश्र १४–१७ सर्ग २५–०, १८–२२ सर्ग
भारतीय-संस्कृतिः । [illegible]
[illegible]भाषाविज्ञानम् । डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी
[illegible]नाटिका-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) श्रीपरमेश्वरदीन पाण्डेय
संस्कृतसाहित्येतिहासः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री परमानन्द शास्त्री
रसगङ्गाधर-हृदयम् । (प्रश्नोत्तरात्मकः) । श्री [illegible] स्वामी
लघुसिद्धान्तकौमुदी-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमिश्र शास्त्री
कादम्बरी-कलाप्रकाशः (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
लघुमञ्जूषारहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । स्वामी [illegible] पुरी
शाकुन्तलरहस्यम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) । त्रिलोकीनाथ द्विवेदी
मेघदूत-तत्त्वालोकः (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० अशोकचन्द्र गौड़ शास्त्री
महाभाष्य[illegible]लोचनम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) विजयमिश्र शास्त्री
[illegible]-प्रकाशः (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-प्रश्नोत्तरी) ।
श्री राजेन्द्रप्रसाद कोठारी
[illegible]-मञ्जरी (प्रश्नोत्तरात्मकः) । डॉ० नरेश झा
[illegible]उपनिषद् (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० नरेश झा
भारतीयसंस्कृति-सोपानम् (प्रश्नोत्तरात्मकः) डॉ० शिवप्रसाद द्विवेदी